

Shri. Meher Baba Ki Akhand Jyoti is copyrighted
© by the Avatar Meher Baba Perpetual Public
Charitable Trust and is reproduced by permission.

श्री मे हे र बा बा

की

अखंड ज्योति

भाग १



आदि के. इरानी

मेहेर पब्लिकेशन्स

किंगजरोड, अहमदनगर

मूल्य ३ रु.

वक्तव्य

श्रीमेहेरबाबा के जो आध्यात्मिक लेख और संदेश समय समय पर ' Meher Baba ' मासिक में प्रकाशित हुए हैं उनका यह अनुवाद ' श्रीमेहेरबाबा की अंखड ज्योति ' (तीन भाग) के रूपमें जनता जनार्दन को समर्पित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है ।

पं. कुंजबिहारी चौबेजी के प्रति हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने मूल अंग्रेजी लेखोंका हिंदीमें अनुवाद किया है । इस अनुवाद को यथोचित सुधारकर पं. बलदेव प्रसाद मिश्रजीने भी हमें उपकृत किया है ।

इसी प्रकार प्रेस कॉपी तैयार करने तथा प्रूफ शुद्धीकरण और प्रकाशन की योजना और संचालन में जिन सज्जनोंने हाथ बटा कर इस कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण सहायता पहुंचायी उन, श्री. जे. डी. केरावाला, डॉ. च. ध. देशमुख श्री. व. प्र. उपाध्याय, श्री. प्रे. ना. भट्ट और श्री. अंबिकाचरण जी शुक्ल इत्यादि सज्जनोंके भी हम अत्यंत आभारी हैं ।

वैसे ही पुस्तकों को इस रूपमें मुद्रित कराने के लिये हम मुद्रक महाशयोंको भी हार्दिक धन्यवाद देते हैं ।

अहमदनगर
१० जुलाई १९५०

आदि के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स

विषय सूची

			पृष्ठ
अवतार	१-१०
स्वार्थ	१०-२१
मुझे पाने के बारह उपाय	२२-२४
ईश्वर तथा व्यक्ति	२५-३६
सृष्टि का आदि और अन्त	३७-५५
संस्कारों का स्वरूप, निर्मिति एवं कार्य	५६-७२
संस्कारों को दूर करने के उपाय, भाग १	७३-९२
संस्कारों को दूर करने के उपाय, भाग २	९३-१०९
संस्कारों को दूर करने के उपाय, भाग ३	११०-११६
पूर्णता	११७-१२५
आध्यात्मिक जीवन	१२६-१३६
निःस्वार्थ सेवा	१३७-१४६
ज्ञान प्राप्तिके मार्ग	१४७-१५७
नवयुगनिर्मिति की पूर्वयातनाएं	१५९-१६३
हिंसा और अहिंसा	१६४-१७२
अहिंसा के प्रकार	१७३
हिंसा के प्रकार	१७४-१८०
क्रिया शीलता तथा निष्क्रियता	१८१-१८४
ईश्वर-पुरुष, भाग १	१८५-१९५
ईश्वर-पुरुष, भाग २	१९६-२०७
ईश्वर-पुरुष, भाग ३	२०८-२२२
मंडल	२२३-२३३



श्री मेहेरबाबा

अवतार ।

सचेतन अथवा अचेतनतः, प्रत्येक जीवित प्राणी केवल एक वस्तु की खोज करता है। निम्नतर श्रेणी के जीवों में तथा कम विकसित मनुष्यों में, यह खोज अचेतन रूप से होती है। विकसित मनुष्यों में सचेतन रूप से। खोज की वस्तु अनेक नामों से संबोधित होती है,—जैसे सुख, शांति, स्वतंत्रता, सत्य, प्रेम, पूर्णता, आत्मदर्शन, ईश्वर-प्राप्ति, ब्रह्म-साक्षात्कार इत्यादि। खोज मूलतः इन सभी के लिए होती है; किन्तु खोज की विधि में एक विशेषता होती है। सभी को सुख के क्षण प्राप्त होते हैं; सत्य की झलक दिखाई देती है; और ईश्वरसाक्षात्कार के क्षणिक अनुभव होते हैं; वे इन्हें स्थायी बनाना चाहते हैं। वे निरंतर परिवर्तन के बीच एक नित्य सत्य की स्थापना करना चाहते हैं।

यह एक स्वाभाविक इच्छा है। ईश्वर से प्राणी की जो तात्त्विक एकता है, उसी की स्मृति पर यह इच्छा आश्रित है। व्यक्ति के विकास की निम्नता या उच्चता के अनुसार, उसकी स्मृति भी अस्पष्ट या स्पष्ट हुआ करती है। उक्त इच्छा स्वाभाविक इस लिए है, कि प्रत्येक जीव ईश्वर की ही आंशिक अभिव्यक्ति है, जो अपने स्वयं के वास्तविक स्वरूप

के ज्ञान के अभाव के कारण, बढ़ हो गया है। सारा विकास (Evolution) यथार्थ में अज्ञात ईश्वरत्व (Unconscious Divinity) से ज्ञात ईश्वरत्व (Conscious Divinity) की ओर अग्रसर होनेवाला विकास है, जिसमें तत्त्वतः एक ही नित्य एवं अनश्वर ईश्वर, स्वयंमेव रूपों की अनन्त विभिन्नता धारण करके, नाना प्रकार के अनुभव का आस्वादन करता है, तथा सीमाओं की अनन्त विभिन्नता का अतिक्रमण करता है। स्रष्टा के दृष्टि-कोण से, विकास एक दिव्य लीला है, जिसमें असीम तथा स्वयंभू आत्मा, सीमाओं के बीच में, अपने असीम ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द की असीमता को प्रस्थापित करता है। किन्तु सृष्ट के दृष्टि-कोण से, उसके सीमित ज्ञान, सीमित शक्ति तथा आनन्द अनुभव करने की सीमित योग्यता के कारण, विकास के इतिहास में, क्रम-वद्ध विश्राम एवं संघर्ष, सुख एवं दुःख, और प्रेम एवं घृणा — एक दूसरे के बाद आते हैं। अंतर्गतत्वा, पूर्ण मनुष्य में, ईश्वर द्वन्द्वों को समतोल करके, द्वैत का आक्रमण करता है, जिससे सृष्ट और स्रष्टा अपनी एकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं; अनित्यता के बीच में नित्यता स्थापित हो जाती है; काल के बीच में अनन्त की अनुभूति होती है। ईश्वर अपने को ईश्वर जानने लगता है; उसे अपनी नित्यता का बोध होता है; व्यक्त रूपों में अपनी अनन्तता का ज्ञान होता है; अपने द्वारा अपना निरंतर नवीन परिचय प्राप्त करके, वह आत्म-ज्ञान के सर्वोत्कृष्ट आनन्द का स्थायी रूप से अनुभव करता है। जीवन के मध्य में ही यह ज्ञान प्रगट होना चाहिए;

और होता भी है। क्योंकि जीवन के मध्य में ही, सीमा का अनुभव किया जा सकता है; और उसका उल्लंघन भी किया जा सकता है; और फलतः सीमातीत स्थिति या मुक्ति का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की मुक्ति तीन रूप धारण करती है।

अधिकांश ईश्वर-प्राप्त पुरुष तुरंत एवं सदा के लिये शरीर त्याग देते हैं; और ईश्वर के अनन्त स्वरूप में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उन्हें केवल मिलन के आनन्द का ज्ञान रहता है। उनके लिए सृष्टि का अस्तित्व नहीं रह जाता; तथा उन्हें जन्म और मरण के अविश्रांत चक्र से छुटकारा मिल जाता है। यह मुक्ति कहलाती है।

कोई ईश्वर-प्राप्त पुरुष कुछ समय के लिए शरीर धारण किये रहते हैं; किन्तु उनकी चेतना ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप में, पूर्णतः निमग्न हो जाती है; अतएव न तो उन्हें अपने शरीर का ज्ञान रहता है, और न सृष्टि का ही। वे ईश्वर के अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द एवं अनन्त शक्ति का निरंतर अनुभव करते हैं; किन्तु ज्ञानपूर्वक इनका उपयोग सृष्टि में नहीं कर सकते; और न मुक्ति-प्राप्ति में दूसरों की वे सहायता ही कर सकते हैं। तथापि संसार में उनकी उपास्थिति ईश्वर के अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति एवं अनन्त आनन्द के एकत्रीकरण तथा प्रसार के लिए, एक केन्द्र-बिन्दु के भाँति है। और जो उनके निकट जाते हैं, उनकी सेवा करते हैं, और उनकी पूजा करते हैं, उनका इस संपर्क के द्वारा आध्या-

त्मिक कल्याण होता है। ऐसे आत्मा 'मञ्जुव' कहे जाते हैं, और उनकी यह विशेष प्रकार की मुक्ति विदेह-मुक्ति या देह से मुक्ति कहलाती है।

कुछ ईश्वर-प्राप्त पुरुष शरीर को बनाये रखते हैं; तो भी ईश्वर के व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों स्वरूपों में, उन्हें अपने ईश्वरत्व का ज्ञान रहता है। वे जानते हैं, कि वे नित्य दैवी तत्व भी हैं, तथा अनन्त विभिन्न रूप भी हैं। वे अपने को सृष्टि से पृथक, ईश्वर अनुभव करते हैं—ऐसा ईश्वर जो समस्त सृष्टि का स्रष्टा, पालक तथा संहारक है; साथ ही साथ वे अपने को ऐसा ईश्वर भी अनुभव करते हैं, जिसने सृष्टि की सीमाओं को स्वीकार किया है, तथा उनसे परे है। वे ईश्वर के अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शांति, एवं अनन्त शक्ति का निरंतर अनुभव करते हैं। वे सृष्टि की दिव्य लीला का पूर्ण आनन्द लाभ करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु में अपने को ईश्वर अनुभव करते हैं, अतः मुक्त, मञ्जुव या सद्गुरु की हैसियत से, वे प्रत्येक वस्तु की आध्यात्मिक सहायता कर सकते हैं; और अन्य आत्माओं को ईश्वर-दर्शन करा सकते हैं।

संसार में हर समय छप्पन सद्गुरु मौजूद रहते हैं। ज्ञान में वे सब एक होते हैं। कार्य में वे सदैव भिन्न होते हैं। अधिकांश भाग में वे जन साधारण लोगों से अलग और अज्ञात रहकर कार्य करते हैं, किन्तु पांच, जो एक प्रकार से, एक संचालक संघ की भाँति काम करते हैं, सदैव सर्व साधारण लोगों के बीच में काम करते हैं, तथा लौकिक

महत्ता एवं प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। अवतारिक कालों में, अवतार सर्वश्रेष्ठ सद्गुरु की हैसियत से, इस संघ तथा समस्त आध्यात्मिक परंपरा के अध्यक्ष के रूप में अपना स्थान ग्रहण करता है।

अवतारिक काल सृष्टि के वसंत ऋतु की भाँति हुआ करते हैं। वे शक्ति का नवीन प्रवाह, चेतना की नूतन जागृति, तथा जीवन का नया अनुभव लाते हैं। केवल कुछ लोगों के लिए नहीं, किन्तु सभी लोगों के लिए। ज्ञान एवं शक्ति के जिन गुणों का उपयोग तथा रसास्वादन केवल कतिपय उन्नत आत्मा करते आये थे, वे समस्त मानवता के लिए सुलभ कर दिये जाते हैं। समग्र जीवन चेतना की उच्चतर सतह में पदार्पण करता है; और उसमें नवीनतर स्फूर्ति का संचार हो जाता है। मानवता का इंद्रिय-जनित अनुभव से बुद्धि में अवस्थान्तर ऐसा ही एक परिवर्तन था, जो हो चुका है; तर्क से अंतःप्रज्ञा में अवस्थान्तर यह परिवर्तन होने को है।

रचनात्मक शक्ति की यह नूतन धारा एक दिव्य व्यक्तित्व के द्वारा प्रवाहित की जाती है, जिसे एक विशिष्ट अर्थ में ईश्वर का अवतार कहते हैं। यह अवतार सर्व प्रथम व्यक्ति था, जो विकास के क्रम से निवृत्त हुआ था; और वह एक ही अवतार पहले प्रगट हुआ है अथवा होगा। उसके द्वारा ईश्वर ने सबसे पहले अचेतन दिव्यत्व से सचेतन दिव्यत्व में अपनी यात्रा समाप्त की। उसके द्वारा

ईश्वर अचेतन भाव से मनुष्य बना, ताकि वह सचेतन भाव से ईश्वर बन सके। उसके द्वारा ईश्वर मानव जाति के उद्धार के लिए सचेतन भाव से मनुष्य बनता है।

अवतार भिन्न रूपों में, भिन्न नामों से, भिन्न समयों पर, विश्व के भिन्न भागों में, प्रगट होता है। उसका अभ्युदय, तथा मनुष्य का आध्यात्मिक जन्म साथ ही साथ होता है; अतः उसकी अभिव्यक्ति का निकट पूर्व-वर्ती समय सदैव ऐसा होता है, जिसमें मानवता आगामी जन्म की प्रसववेदना से पीड़ित होती है। मनुष्य हमेशा से अधिक इच्छा का दास हो जाता है, हमेशा से अधिक लोभ-ग्रस्त, भयत्रस्त तथा क्रोध-दग्ध हो जाता है। बलवान दुर्बल पर शासन करते हैं, धनवान निर्धन पर अत्याचार करते हैं, विशाल जनसमुदाय का शोषण उन थोड़े से लोगों के लाभ के लिए किया जाता है, जिनके हाथ में सत्ता रहती है। कहीं भी शांति या विश्राम न पा कर, व्यक्ति उत्तेजना एवं विलास में डूब कर अपने आपको भूल जाने का यत्न करता है। दुराचार बढ़ता है; अपराधों की वृद्धि होती है; तथा धर्म का परिहास किया जाता है। समाजव्यवस्था में भ्रष्टता बढ़ती है। श्रेणियों एवं राष्ट्रों के बीच घृणा जागृत तथा उत्तेजित की जाती है। युद्ध छिड़ जाते हैं। मानवता किंकर्तव्यमूढ़ हो जाती है। संहार के वेग को शिथिल करने का कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऐसे समय में अवतार प्रगट होता है। मानवीय रूप में ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के सबब, वह एक माप दंड के तुल्य होता है, जिसके विरुद्ध मनुष्य माप कर सकता है। मानवीय उत्कृष्टताओं के आदर्श को वह दिव्य जीवन के दृष्टान्त द्वारा यथार्थ कर दिखलाता है।

प्रत्येक वस्तु में उसकी रुचि होती है; किन्तु किसी वस्तु से उसका लगाव नहीं होता। अत्यन्त छोटी दुर्घटना उसकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है। महान से महान शोक भी उसे विचलित नहीं कर सकता। दुःख और सुख, इच्छा और संतोष, विश्राम और संघर्ष, जीवन और मृत्यु के द्वन्द्वों से, वह परे रहता है। उसके लिये ये सब ऐसे भ्रम हैं, जिनसे वह मुक्त हो चुका है, किन्तु जिनसे अन्य लोग बद्ध हैं, और जिनसे उन्हें मुक्त करने के लिये, वह आया है। वह प्रत्येक परिस्थिति का उपयोग उन लोगों को आत्म-ज्ञान की ओर बढ़ाने के साधन के रूप में करता है।

वह जानता है, कि मृत्यु से मनुष्यों के अस्तित्व का अन्त नहीं होता; अतः मृत्यु से उसे कोई मतलब नहीं रहता। वह जानता है, कि सृजन के पूर्व संहार होता है; यंत्रणा के गर्भ से शांति और आनन्द का जन्म होता है, प्रयत्न के ही द्वारा, कर्म के बंधनों से छुटकारा मिलता है। मतलब की बातों से ही उसे मतलब हुआ करता है।

जो उसके संपर्क में आते हैं, उनमें वह ऐसा प्रेम जागृत करता है, जो उनकी तमाम स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को,

उसकी सेवा करने की इच्छा की अग्निशिखा में, भस्म कर देता है। जो उसको अपने जीवन अर्पित करते हैं, वे क्रमशः ज्ञान में उसी के समान हो जाते हैं। क्रमानुसार उनकी मनुष्यता उसके दिव्यत्व में लीन होती जाती है; और वे मुक्त हो जाते हैं।

जो उसके अत्यन्त निकट होते हैं, वे उसका वृत्त (Circle) कहलते हैं। प्रत्येक सद्गुरु का वारह शिष्यों का एक वृत्त होता है। सद्गुरु इन शिष्यों को ज्ञान में अपने ही समान बनाता है, यद्यपि उनके कार्य और अधिकार भिन्न होते हैं। अवतारिक कालों में अवतार का वृत्त एक सौ बीस शिष्यों का होता है, जो सब आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं, और दूसरों की मुक्ति के लिए कार्य करते हैं।

उनका कार्य सिर्फ तत्कालीन मानवता ही के लिए नहीं होता; किन्तु भावी मानव-सन्तान के लिए भी होता है। अवतारिक कालचक्र के लिए आवश्यक जीवन एवं चेतना का जो उद्घाटन निर्मायक विश्व में अवतार के आकार धारण करने के पहले ही तय रहता है, उसका रूपात्मक एवं भौतिक संसारों में अनुमोदन तथा आयोजन पृथ्वी पर अवतार के जीवन काल में संपादित होता है।

अवतार समकालीन मानव जाति को जागृत कर, उसके सच्चे आध्यात्मिक स्वभाव का ज्ञान कराता है; उन लोगों को मुक्ति देता है, जो उसके लिए तैयार रहते हैं और अपने समय में जीव के जीवन को द्रुत गति प्रदान

करता है। भावी मानव-संसार के लिए, वह अपना आदर्श छोड़ जाता है। उसके दिव्य मानवीय दृष्टान्त की उत्साह-वर्धक शक्ति, उसका पवित्र एवं महान जीवन, उसका इच्छा-विहीन निर्मल प्रेम, उसकी केवल परोपकार में ही लगायी गयी शक्ति, उसकी आकांक्षा-रहित शांति, उसका भ्रमविमुक्त ज्ञान,—ये सब उसके तिरोहित होने पर मानवता का पथ-प्रदर्शन करते हैं।

पृथ्वी पर स्वर्गीय अर्थात् दिव्य जीवन सभी मनुष्यों के लिए संभव है, यह अपने जीवन के उदाहरण के द्वारा उसने सिद्ध कर दिया है। इच्छा उत्पन्न होने पर साहसी और सच्चे मनुष्य उसके अनुयायी होंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से जो जागृत हैं, उन्हें विदित है, कि अवतारिक अभिव्यक्ति का पूर्ववर्ती समय जैसा हमेशा हुआ करता है, वैसे ही समय से आजकल संसार गुजर रहा है। अजागृत स्त्री पुरुष भी अब इस बात को जानने लगे हैं। अपने अंधकार से वे प्रकाश के लिए आगे बढ़ रहे हैं, अपने दुःख में, वे आराम के लिए लालायित हैं, कलह के भँवर में, अपने आप को ग्रस्त देख कर, वे शांति और उद्धार के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

कुछ समय के लिए उन्हें धैर्य धारण करना चाहिए। संहार की लहर को और अधिक उंची उठनी चाहिए, और अधिक आगे बढ़ना चाहिए। किंतु जब मनुष्य अपने हृदय की गहराई से, धन की अपेक्षा किसी अधिक स्थायी वस्तु की इच्छा करेगा, भौतिक शक्ति की अपेक्षा किसी अधिक सत्य

वस्तु की चाह करेगा, तब यह लहर पीछे हटेगी। फिर शांति का आगमन होगा, आनन्द का आगमन होगा, प्रकाश का आगमन होगा।

मेरा मौन तोड़ना—जो जनसमाज के समक्ष मेरी अभिव्यक्ति का संकेत होगा—बहुत दूर नहीं है। मैं सर्वोत्तम निधि लाता हूँ, जिसे मनुष्य के लिए लेना संभव है—यह निधि ऐसी है, सभी निधियां जिसके अंतर्गत हैं, जो अक्षय है, दूसरों को देने से जो और भी बढ़ती है। इसे लेने के लिए तैयार होओ।

स्वार्थ

इच्छाओं की, कार्य तथा अनुभव में, अपनी वृत्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण, स्वार्थपरता अस्तित्व में आती है। व्यक्ति के सच्चे स्वभाव की स्वार्थपरता का मौलिक अभिज्ञता से उसका जन्म होता विरेलक्षण है। चेतना के लंबे विकासक्रम के द्वारा संचित, विभिन्न प्रकार के संस्कारों के समुच्चय से, मानवीय चेतना तिमिराच्छादित हो जाती है। ये संस्कार इच्छाओं के रूप में प्रगट होते हैं; और इन इच्छाओं के द्वारा चेतना का कार्यक्षेत्र कठोरतापूर्वक सीमित हो जाता है। चेतना का संभवक्षेत्र चारों ओर से संस्कारों के द्वारा घिर जाता है। संस्कारों का घेरा वह सीमित क्षेत्र है, केवल जिसमें ही वैयक्तिक चेतना एकत्रीभूत की जा सकती है। कुछ इच्छाओं की

कार्य-रूप में परिणत होने की केवल संभावना हुआ करती है, किंतु अन्य इच्छाएं तो वस्तुतः अपने को कार्य में परिणत करती हैं। इच्छा की आचरण में अपने को व्यक्त कर सकने की योग्यता, उसकी तीव्रता तथा उससे संबद्ध संस्कारों की मात्रा पर निर्भर है। यदि रेखागणित के रूपक का उपयोग करें, तो हम कह सकते हैं, कि जब कोई इच्छा कार्य-रूप में परिणत होती है, तब वह इतनी दूरी तय करती है, जो उस वृत्त की त्रिज्या के बराबर होती है, जो उस इच्छा से संबद्ध संस्कारों की परिधि खींचता है। पर्याप्त शक्तिसंचय के कर लेने के बाद, पूर्ण होने के लिये, इच्छा अपने को कार्य में परिवर्तित करती है।

स्वार्थपरता का घेरा इच्छाओं के घेरे के बराबर है। विविध इच्छाओं के अवरोध के सबब, अपने यथार्थ स्वरूप की पूर्ण एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति, आत्मा चाह का परिणाम के लिए असंभव हो जाती है। एवं जीवन असंतोष है। स्व-केंद्रित, तथा सीमित हो जाता है। वैयक्तिक अहम् का समस्त जीवन चाह की मुट्टी में निरंतर बंधा रहता है। परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर वस्तुओं के द्वारा इच्छाओं की तृप्ति खोजने का नाम चाह है। किंतु, नाशवान वस्तुओं के द्वारा वास्तविक तृप्ति की प्राप्ति असंभव है। जीवन की चंचल वस्तुओं से प्राप्त संतोष स्थायी नहीं होता; और मनुष्य की चाहें अतृप्त बनी रहती हैं। इस प्रकार, असंतोष का एक सामान्य भाव सदैव मौजूद रहता है,

जिसके साथ साथ, सभी प्रकार की चिंताओं का आगमन होता है।

निष्फल अहंकार, जिन तीन मुख्य रूपों में व्यक्त होता है, वे हैं, काम, लोभ और क्रोध। कई दृष्टियों से काम बहुत कुछ लोभ के ही समान है। केवल तृप्त होने की इसकी विधि भिन्न है, जिसका सीधा काम, लोभ तथा संबंध स्थूल क्षेत्र से रहता है। काम क्रोध। स्थूल शरीर के माध्यम के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है तथा स्थूल क्षेत्र से एक प्रकार की बद्धता Entanglement का वह द्योतक है। लोभ हृदय की विश्राम-हीनता की एक अवस्था है; और वह अधिकार और सत्ताप्राप्ति की लिप्सा से उत्पन्न होता है। इच्छाओं की तृप्ति के लिये, अधिकार और शक्ति की खोज की जाती है। इच्छाओं को तृप्त करने के अपने प्रयत्न में, मनुष्य केवल आंशिक रूप से संतुष्ट होता है। और यह आंशिक संतोष, इसकी इच्छा की अग्नि को, शांत करने के बदले, और भी प्रज्वलित कर देता है। अतः लोभ के लिये, अपने असीम क्षेत्र पर विजय पाना असंभव होता है, और यह मनुष्य को अंत में अत्यंत असंतुष्ट बना देता है। लोभ की प्रधान अभिव्यक्तियां मनुष्य की भावनात्मक पहलू से संबंध रखती हैं। लोभ सूक्ष्म क्षेत्र से एक प्रकार की बद्धता का द्योतक है। क्रोध उत्तोजित मन का उफान है। इच्छाओं के खंडित होने से वह उत्पन्न होता

है। वह सीमित अहंभाव को भोजन देता है। आक्रमण एवं प्रभुत्व के लिये उसका उपयोग होता है। उसका लक्ष्य है, इच्छाओं के तृप्त होने के मार्ग की बाधाओं को दूर करना। क्रोध का उन्माद अहंकार और अभिमान का पोषण करता है; और वह सीमित अहंभाव का सर्वश्रेष्ठ हितैषी है। क्रोध का स्थान मन में है; और वह अधिकांश में, मन की क्रियाओं के द्वारा व्यक्त होता है। क्रोध एक प्रकार से मानसिक वृद्धता का चोतक है। काम, लोभ और क्रोध की अभिव्यक्ति के साधन क्रमशः शरीर, हृदय और मन है।

मनुष्य काम, लोभ और क्रोध के द्वारा, निराशा का अनुभव करता है। और निष्फल अहम् उसकी तरफ से काम, लोभ और क्रोध के ही द्वारा, अधिक तृप्ति की खोज करता है।

इस प्रकार चेतना असीम निराशा के दुष्ट चक्कर में फंस जाती है। काम, लोभ या क्रोध की अभिव्यक्ति के अवरुद्ध होने से निराशा उत्पन्न होती है। अतएव स्थूल, सूक्ष्म एवं मानसिक वृद्धता की निराशा एक सामान्य प्रतिक्रिया (reaction) है। वह एक उदासीनता है, जो काम, लोभ और क्रोध की अतृप्ता से प्रगट होती है। काम, लोभ और क्रोध का विस्तार स्वार्थपरता के साथ ही साथ होता है। इन तीनों अन्योन्याश्रित दुर्गुणों की आधार-शिला स्वार्थपरता है; अतः स्वार्थपरता ही निराशा, एवं चिंताओं का आदि कारण है। वह अपने आप को ही परा-

जित करती है। वह इच्छाओं के द्वारा अपनी तृप्ति की खोज करती है; किंतु असीम असंतोष प्राप्त करने में ही सफल होती है।

स्वार्थपरता का अनिवार्य परिणाम असंतोष और निराशा है, क्योंकि इच्छाओं का कोई अंत नहीं है। अतः

सुख का पथ सुख की समस्या का दूसरा नाम इच्छा-त्याग की समस्या है। तथापि यांत्रिक दमन के द्वारा, इच्छाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। वे केवल ज्ञान के ही द्वारा छिन्नमूल की जा सकती हैं। यदि तुम विचारों की गहराई में डूवो, और कुछ क्षणों के लिए गंभीरतापूर्वक सोचो, तो तुम्हें इच्छाओं का खोखलापन मालूम हो जायगा। सोचो कि इतने वर्षों तक तुम्हें कितना सुख मिला, तथा तुम्हें कितना दुःख मिला। जीवन में तुमने जो भोग किया, वह आज शून्य के बराबर है; और जीवन में तुम्हें जो कष्ट मिला, वह भी कुछ नहीं के समान है। सब भ्रमात्मक था। सुखी होने का तुम्हें अधिकार है। लेकिन तोभी तुम स्वयं वस्तुओं की चाह करके, अपना दुःख पैदा करते हो। चाह सतत अशांति का उद्गम स्थान है। जिस वस्तु की तुमने चाह की, यदि वह तुम्हें नहीं मिली, तुम निराश होते हो। यदि वह तुम्हें मिली, तो तुम उसे अधिकाधिक चाहते हो, और दुःखी होते हो। कहो “मुझे कुछ भी नहीं चाहिये”; और सुखी होओ। चाहों की असारता की निरंतर अनुभूति, तुम्हें अंत में ज्ञान प्रदान करेगी।

यह आत्मज्ञान चाहों से तुम्हे मुक्त करेगा; और इस प्रकार, स्थायी सुख का पथ तुम्हें मिल जायगा।

चाहों (wants) और आवश्यकताओं (needs) का भेद भली भांति समझ लेना चाहिये। अभिमान और क्रोध, वासना और लोभ, ये सब चाह के भिन्न रूप हैं। तुम कदाचित् कहोगे, “मुझे जिन वस्तुओं की इच्छाओं का चाह है, उन सब की मुझे आवश्यकता है”। किंतु यह एक भूल है। यदि तुम मरुस्थल में प्यासे हो, तो तुम को स्वच्छ जल की आवश्यकता है, न कि शर्वत की। जब तक मनुष्य का शरीर है, तब तक कुछ आवश्यकताएं रहेगी, और ऐसी आवश्यकताएं पूरी करना जरूरी है। किंतु चाहें मूढ कल्पना का परिणाम है। यदि सुख पाना है, तो सावधानी पूर्वक हमें उनका वध करना चाहिये। इच्छाओं से ही स्वार्थपरता की सृष्टि होती है; अतः चाहों का त्याग मृत्यु की एक विधि है। सामान्यतः मरना का अर्थ शरीर त्याग करना है। किंतु निम्न विषयेच्छाओं को त्यागना असली मरना है। पुरोहित लोग स्वर्ग और नरक के दुःखपूर्ण चित्र खींच कर, झूठी मृत्यु के लिये मनुष्यों को तैयार करते हैं। किंतु यह मृत्यु भ्रमात्मक है, क्योंकि जीवन एक अनवरत प्रवाह है। इच्छाओं की समाप्ति ही सच्ची मृत्यु है, और यह धीरे धीरे आती है।

प्रेम के उदय से स्वार्थपरता का नाश सरल हो जाता है। सच्चे आस्तित्व का नाम है, प्रेम करके मरना। यदि तुम एक दूसरे को प्रेम नहीं कर सकते हो, तो तुम उन्हें कैसे प्रेम कर सकते हो जो तुम्हें यंत्रणा देते हैं? प्रेम और सेवा। स्वार्थपरता की सीमाएं अज्ञान के द्वारा निर्मित होती हैं। जब मनुष्य जानने लगता है, कि उसकी रुचियों और कार्यों के विस्तृत होने से, उसे अधिक गौरवपूर्ण संतोष की प्राप्ति होगी, तब वह सेवा-मय जीवन की ओर अग्रसर होता है। इस स्थिति में, सदिच्छाओं को अपने मन में स्थान देता है। वह परदुःख निवारण तथा परोपकार द्वारा दूसरों को सुखी करना चाहता है। यद्यपि ऐसी अच्छी इच्छाओं में भी स्वार्थ का अप्रत्यक्ष एवं लुप्त संबंध रहता है, तथापि उसके सत्कार्य पर संकुचित स्वार्थपरता का अधिकार नहीं रहता। अच्छी इच्छाएं भी एक अर्थ में स्वार्थपरता का ही व्यापक एवं प्रशस्त रूप हैं, क्योंकि बुरी इच्छाओं की भांति, वे भी द्वैत के राज्य के भीतर कार्य करते हैं। किंतु अच्छी इच्छाओं के रूप में स्वार्थपरता एक ऐसे विशालतर विचार को आलिंगन कर रही है, जो निदान उसी का मूलोच्छेदन करता है। केवल यशस्वी, आकर्षक तथा संग्रह-शील बनने का प्रयत्न करने के बदले, मनुष्य अब दूसरों के लिये उपयोगी बनना सखिता है।

व्यक्तिगत अहम् की रचना में जो इच्छाएं प्रविष्ट होती हैं, वे या तो अच्छी होती हैं, या बुरी। बुरी इच्छाएं सामान्यतः स्वार्थपरता के नाम से संबोधित होती हैं। और अच्छी इच्छाएं निःस्वार्थता के नाम से पुकारी जाती हैं। किंतु स्वार्थपरता और निःस्वार्थता के बीच में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। द्वैत के ही क्षेत्र में दोनों कार्य करती हैं। और अच्छाई और बुराई के द्वन्द्व से परे सर्वोपरि दृष्टि में, स्वार्थपरता और निःस्वार्थता का भेद मुख्यतः विस्तार का भेद है। स्वार्थपरता तथा निःस्वार्थता वैयक्तिक अहंकार के जीवन की दो अवस्थाएं हैं; और दोनों अवस्थाओं में पारस्परिक संबंध है। स्वार्थपरता का जन्म तब होता है, जब सारी इच्छाएं संकुचित व्यक्तित्व के चारों ओर केन्द्रीभूत कर दी जाती हैं। जब निःस्वार्थता का उदय होता है, तब इच्छाओं की ऐसी लचर व्यवस्था भंग होती है; और इच्छाओं का सामान्यतः विस्तार होता है। इच्छाओं के विस्तार का यह परिणाम होता है, कि वे विशालतर क्षेत्र को घेरती हैं। एक सीमित क्षेत्र तक रुचियों का संकुचित होना स्वार्थपरता है; एक विशाल क्षेत्र में रुचियों का विस्तार निःस्वार्थता है। स्वार्थपरता निःस्वार्थता का मर्यादित रूप है, और निःस्वार्थता स्वार्थपरता का एक विस्तृत कार्य क्षेत्र में प्रसार है। यह

बात असत्य सी प्रतीत होने पर भी वस्तुतः सच है।

द्वैत की दुनिया से पूर्णतः ऊपर उठने के पूर्व, स्वार्थ का निःस्वार्थता में परिणत होना नितान्त आव-

स्वार्थ की
निःस्वार्थता में
परिणति।

श्यक है। दृढ़ आग्रह के साथ तथा निरंतर सत्कार्यों को करने रहने से स्वार्थ क्षीण हो जाता है। स्वार्थ का जब विस्तार बढ़ता है, और वह सत्कार्यों में अभिव्यक्त होता है, तब वह स्वयं अपने नाश का साधन बन जाता है। अच्छाई उन्नतिशील स्वार्थ तथा मरणासन्न स्वार्थ के बीच प्रधान कड़ी है। जो स्वार्थ आरंभ में कुप्रवृत्तियों का जनक होता है, वही, अच्छे कार्यों के द्वारा, अपना ही नाश करनेवाला वीर सिद्ध होता है। और जब कुप्रवृत्तियों के स्थान में, सत्प्रवृत्तियाँ पूर्णतया आरूढ हो जाती हैं, तब स्वार्थ निःस्वार्थता में परिणत हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि व्यक्तिगत स्वार्थ अपने को जागतिक हित में लीन कर देता है। और यद्यपि वह निःस्वार्थ तथा परहितपरायण जीवन भी, द्वन्द्वों से वद्ध होता है, तथापि अच्छाई द्वन्द्व-मुक्ति के लिए आवश्यक कदम है। अच्छाई वह साधन है, जिसके द्वारा, आत्मा अपने अज्ञान का उन्मूलन कर सकता है।

अच्छई को पार करके आत्मा परमात्मा में पहुँचता है। निःस्वार्थता सर्वात्मभाव (Universal Selfhood) अर्थात् सर्वोपरी परमार्थ में लय हो जाती है।

सर्वात्मभाव सत् और असत्, सद्गुण और दुर्गुण, तथा माया के अन्य द्वैतमय स्वरूपों से परे है। निःस्वार्थता की सर्वोच्चता सर्वभूत के प्रति एकता की अनुभूति का आरंभ है। मुक्ति की अवस्था में, स्वार्थ-परता तथा निःस्वार्थता का अस्तित्व

सामान्य अर्थ में नहीं रह जाता; किंतु सभी के प्रति आत्मीयता की अनुभूति में, इन दोनों का लय हो जाता है। समस्त जीवन की एकता के ज्ञान से, परम शांति एवं अथाह आनंद की उपलब्धि होती है। यह ज्ञान आध्यात्मिक गति-शून्यता नहीं है; और इसके द्वारा सापेक्षिक मूल्यों (Relative values) का नाश भी नहीं होता। सभी के प्रति आत्मीयता की अनुभूति से ऐसी स्थायी समता की प्राप्ति होती है, जिसमें विवेक की विद्यमानता रहती है, तथा ऐसी शांति की उपलब्धि होती है जो संसार के प्रति उदासीनता अथवा उपेक्षा का बर्ताव नहीं करती। 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' का यह भाव केवल वैयक्तिक दृष्टि कोण से समन्वय (synthesis) करने का परिणाम नहीं है। यह अंतिम सत्यसे, (जिसके अंतर्गत सब कुछ है) एकता की वास्तविक प्राप्ति का परिणाम है।

सभी इच्छाओं को निर्मूल करके, अपना हृदय खोलो; और उसमें केवल एक ही लालसा को स्थान दो—अर्थात् अंतिम सत्य से एकता प्राप्त करने की लालसा। उस अंतिम सत्य की खोज बहिर्गत की परिवर्तनशील वस्तुओं में नहीं की जानी चाहिए। उसकी खोज अपने ही भीतर करनी चाहिए। प्रत्येक बार जब तुम्हारा आत्मा तुम्हारे मानवीय हृदय में प्रवेश करना चाहता है, तब वह बाहर तो ताला जकड़ा हुआ पाता है, तथा भीतर इच्छाओं की बड़ी भीड़ लगी रहती है। सर्वत्र स्थायी आनन्द का उद्गम स्थान मौजूद है; किंतु तो भी समस्त प्राणी अज्ञानजनित इच्छाओं के कारण, दुःखी हैं। स्थायी सुख का लक्ष्य पूर्णतः तभी चमकता है, जब सीमित अहंकार अपनी समस्त इच्छाओं के सहित, अपने पूर्ण एवं अंतिम नाश को प्राप्त होता है।

इच्छाओं के त्याग का अर्थ संसार को त्याग देना या जीवन के प्रति निरा निषेधात्मक रुख धारण करना नहीं है। जीवन का ऐसा किसी भी प्रकार का निषेध मनुष्य को मनुष्यत्वशून्य बनाता है। ईश्वरत्व मनुष्यत्व के रहित नहीं है। आध्यात्मिकता का परमावश्यक कर्तव्य मनुष्य को अधिक मनुष्यत्व-युक्त बनाना है। मनुष्य में जो सौंदर्य है, महानता तथा सात्विकता है, उन्हें मुक्त तथा

आध्यात्मिकता
जीवन के प्रति
विधायक रुख
है।

व्यक्त करने के कार्य का नाम आध्यात्मिकता है। बहिर्गत में जो कुछ भी भव्य तथा सुंदर है, उसे भी वह विकसित करती है। सांसारिक कार्यों के बाह्यत्याग तथा कर्तव्य और उत्तरदायित्व की उपेक्षा को वह आवश्यक नहीं मानती। वह केवल उतना ही आवश्यक समझती है, कि व्यक्ति के विशेष स्थान और पद से, जो कार्य और उत्तरदायित्व उत्पन्न होते हैं, उनका संपादन करते समय, उसका आत्मा इच्छाओं के बोझ से मुक्त रहे। द्वैत के बंधनों से मुक्त रहना ही पूर्णता है। बंधनों से इस प्रकार की मुक्ति अवरोध-रहित विधायकता (Creativity) के लिए नितान्त आवश्यक है। बंधनों के भय से जीवन से दूर भागने से, यह मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा करना जीवन का निराकरण है। प्रकृति की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति से भयभीत हो कर पीछे हटने से, पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती। बंधन से बचने के प्रयत्न का अर्थ है जीवन से भयभीत होना। किंतु आध्यात्मिकता का अर्थ है, परस्परविरोधों (opposites) से अभिभूत हुए बिना, जीवन का ठीक और पूर्ण ढंग से सामना करना। उसे सभी प्रकार के आकर्षक एवं शक्तिशाली भ्रमों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए। ऐसी आध्यात्मिकता का पालन करनेवाला मनुष्य जीवन के विभिन्न रूपों से अपना संपर्क बनाये रख कर भी, प्रचंड क्रियाशीलता के बीच, आसक्ति से संपूर्णतः रहित हो कर, आचरण करता है।

मुझे पाने के बारह उपाय ।

१. आकांक्षा:— सहारा की प्रचंड धूप में कई दिनों से पड़ा हुआ व्यक्ति, जिस प्रकार पानी के लिए व्याकुल तथा लालायित हो जाता है, यदि मुझसे मिलने की तुम्हारी भी आकांक्षा इसी प्रकार की है, तो तुम मुझे प्राप्त करोगे ।

२. चित्त-शांति—हिमाच्छादित झील की शांति यदि तुम में है, तो तुम मुझे प्राप्त करोगे ।

३. नम्रता:—यदि उस मृत्तिका की नम्रता तुम में है, जो किसी भी आकार में परिवर्तित की जा सकती है, तो तुम मुझे जानोगे ।

४. विव्हलता:—यदि ऐसी विव्हलता का अनुभव होता है, जिससे विवश हो कर मनुष्य आत्महत्या कर लेता है, और तुम्हें महसूस होता है, कि तुम मुझे देखे बिना नहीं रह सकते, तो तुम मुझे देखोगे ।

५. विश्वास:—गुरु के कथन पर विश्वास करके, कल्याण ने जिस प्रकार दिन को रात मान लिया, यदि तुम्हारा भी विश्वास इस प्रकार पूर्ण है, तो तुम मुझे जानोगे ।

६. प्रेम के द्वारा संयमः—यदि मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम तुम्हारी इंद्रिय विषयक वासना को निकाल, बाहर कर सकेगा, तो तुम मुझे पाओगे ।

७. निष्ठाः—जैसी जीवन के अंत तक साँस तुम्हारा साथ देती है, यद्यपि हमेशा तुम्हें उसका अनुभव नहीं होता (तथा सुख और दुःख दोनों में वह तुम्हारे साथ रहती है, और कभी तुम्हारे विरुद्ध नहीं होती) यदि वैसी ही तुम्हारी भी निष्ठा है तो तुम मुझे जानोगे ।

८. निःस्वार्थ सेवाः—समस्त सृष्टि पर—खेत की घास पर, उड़ते हुए पक्षियों पर, वन के पशुओं पर, तथा दुर्जन-सज्जन एवं धनी-निर्धन पूर्ण मानव जाति पर—अपने प्रति इन सब के बर्ताव से अविचलित रह कर, जिस प्रकार सूर्य चमकता है, और परिणाम पर ध्यान दिये बिना समभाव से सब की सेवा करता है, यदि तुम में इसी तरह की निःस्वार्थ सेवा का गुण है, तो तुम को विजय में मैं मिलूंगा ।

९. त्यागः—यदि तुम मेरे लिये शारिरिक, मानसिक आध्यात्मिक अर्थात् अपने सर्वस्व का त्याग कर दोगे, तो तुम मुझे प्राप्त करोगे ।

१०. आज्ञा कारिताः—आंख के प्रति प्रकाश की भाँति, तथा नासा के प्रति सुगंध के भाँति, सहज, स्वाभाविक तथा पूर्ण यदि तुम्हारी आज्ञाकारिता है, तब तुम मेरे निकट आओगे ।

११. आत्म समर्पण:—जिस प्रकार उन्निद्र रोग से ग्रस्त मनुष्य, खो जाने के भय के बिना, आकस्मिक निद्रा के हाथ में अपने को सौंप देता है, यदि इसी प्रकार पूर्ण हृदय से मेरे हाथ में, तुम अपना आत्मसमर्पण करते हो, तो तुम मुझे प्राप्त करते हो ।

१२. प्रेम:—ईसामसीह (Jesus) के लिये सेंट फ्रांसिस (St Francis) का जैसा प्रेम था, मेरे लिये यदि वैसा ही तुम्हारा भी प्रेम है, तो तुम मेरा ज्ञान ही प्राप्त नहीं करोगे, किंतु मुझे प्रसन्न भी करोगे ।

ईश्वर तथा व्यक्ति ।

ईश्वर अनंत है । अच्छे और बुरे, ठीक और गलत, सद्गुण और दुर्गुण, जन्म और मृत्यु, आनंद और पीडा — इन परस्पर विरोधों से वह परे है ।

ईश्वर द्वन्द्ववर्ती है । यदि हम ईश्वर को एक पृथक् सत्ता मानते हैं, तो वह सापेक्षिक अस्तित्व की एक वस्तु बन जाती है । जिस प्रकार अच्छा बुरा के

विरुद्ध है, उसी प्रकार ईश्वर अ-ईश्वर के विरुद्ध, एवं अनंत सान्त के विरुद्ध समझा जाता है । जब हम अनंत और सान्त की बात करते हैं तो हम उन्हें दो वस्तु समझते हैं; और अनन्त द्वैत का दूसरा भाग बन जाता है । किन्तु अनंत तो जहाँ द्वैत नहीं है वहाँ की वस्तु है । यदि हम अनंत को सान्त के विरुद्ध समझें, तो वह अनंत नहीं रह जाता, किन्तु सान्त का ही एक भेद हो जाता है, क्योंकि वह सान्त के विरुद्ध प्रतिष्ठित होता है, और इस भाँति वह सीमित हो जाता है । और चूंकि अनंत सान्त का द्वितीय भाग नहीं हो सकता, इस लिये सान्त का दृश्य

अस्तित्व मिथ्या है। केवल अनंत का अस्तित्व है। ईश्वर द्वैत के सीमाक्षेत्र में नहीं लाया जा सकता। केवल एक ही वस्तु का अस्तित्व है; और वह है सर्वभूतान्तरात्मा (Universal Soul)। सान्त या सीमित का अस्तित्व केवल दिखाई देनेवाला या काल्पनिक है।

तुम अनंत हो। तुम वस्तुतः सर्व-व्यापक हो। किंतु तुम सोचते हो, कि तुम शरीर हो, और अपने को सीमित समझते हो। यदि तुम सोचते हो, कि तुम वह शरीर हो, जो बैठा है, तो तुम अपना सच्चा स्वरूप नहीं जानते।

यदि तुम अंतर्मुख हो कर, अपने आत्मा को उसके सच्चे स्वभाव में, अनुभव करो, तो तुम्हें अनुभूति होगी, कि तुम अनंत हो, और समूचे सृष्टिप्रपंच से परे हो।

किंतु तुम शरीर से अपने आप का समीकरण करते हो, और इस मिथ्या समीकरण का कारण है अज्ञान, जो मन के माध्यम के द्वारा, अपने को प्रभावपूर्ण बनाता है।

आध्यात्मिकता में उन्नत मनुष्य सोचता है, कि वह सूक्ष्म शरीर है। संत सोचता है, वह मन है। किंतु इस प्रकार सोचने की सभी विधियों में, आत्मा अपना स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं कर रहा है। उक्त प्रकार से सोचना, भ्रमरहित तथा अमिश्रित सोचना नहीं है। आत्मा स्वतः के सच्चे स्वरूप में अनंत है—मन तथा शरीर से पृथक् है। किंतु अज्ञान के कारण आत्मा मन के वश में आ कर, 'सोचने

वाला' बन जाता है। कभी वह अपने को शरीर मानता है; और कभी अपने को मन समझता है। और माया बद्ध मनुष्य के संकुचित दृष्टि-कोण से विश्व में व्यक्तियों का अस्तित्व है। ऐसा दिखाई देता है, कि जितने मन और शरीर हैं उतने ही व्यक्ति हैं। वास्तव में केवल सर्वव्यापक आत्मा एकही है; किंतु व्यक्ति सोचता है, कि वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न है। एक एवं अद्वितीय आत्मा ही, विभिन्न दिखाई देने वाले व्यक्तियों के मनों के पीछे मौजूद है। और इन व्यक्तियों के द्वारा, वह द्वैत के विभिन्न अनुभव प्राप्त करता है। अनेक में जो एक है, वह अनेक में से एक बन कर, अपना अनुभव करता है। इसका कारण है, कल्पना या मिथ्या विचार।

चेतना के विकासक्रम के समय जो संस्कार संचित होते जाते हैं, उन्हीं के हस्तक्षेप के कारण, विचार मिथ्या हो जाता है। इच्छाओं के रूप में अपने को व्यक्त करने वाले संस्कारों के प्रभाव से चेतना की क्रिया विकृत हो जाती है। अनेक जन्म के द्वारा चेतना पर अनुभव के पश्चात्-परिणामों (after effects) का भार निरंतर बढ़ता जाता है। और इन पश्चात्-परिणामों से आत्मा का ज्ञान सीमित होता जाता है। आत्मा का विचार, संस्कारों के द्वारा निर्मित सीमा को, लॉघ नहीं सकता है; और चेतना अपने ही मिथ्या

मिथ्या विचार
का कारण।

विचार से बने हुए भ्रमों के जाल में एक असहाय बन्दी की भाँति फँस जाती है। और विचार का यह मिथ्यात्व केवल आंशिक रूप से विकसित चेतना में ही विद्यमान नहीं रहता, किंतु मनुष्यों में भी मौजूद रहता है, जो पूर्णतः विकसित हैं।

चेतना का उन्नति-शील विकास (evolution) पाषाण की अवस्था से प्रारंभ हो कर, मनुष्य में पराकाष्ठ को प्राप्त होता है। विकास का इतिहास चेतना के उत्तरोत्तर विकास का इतिहास है। और विकास का फल है, पूर्ण चेतना (Full consciousness) जो मनुष्य में चरितार्थ होती है। किंतु यह पूर्ण चेतना भी धूल से ढँके हुए आईने के समान होती है। संस्कारों के प्रभाव के कारण, पूर्ण चेतना को भी आत्मा के स्वभाव का सच्चा एवं स्पष्ट ज्ञान नहीं मिलता। यद्यपि चेतना पूर्ण विकसित हो जाती है, तथापि सत्यबोध के बजाय, वह काल्पनिक सृष्टि का ही बोध कराती है, क्योंकि उसकी स्वतंत्र क्रिया संस्कारों के भार से अवरुद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त, अपनी इच्छाओं के द्वारा वह जो पिंजड़ा बना लेती है, उसके बाहर वह नहीं निकल सकती। अतः उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है; और उसका कार्यक्षेत्र भी मर्यादित बनता है।

संस्कार चेतना की सीमा निर्धारित करते हैं; और इच्छाएं उसके कार्य का संचालन करती हैं। किंतु, चूंकि इच्छाएं आत्म-तुष्टि चाहती हैं, अतः समस्त चेतना स्व-केन्द्रित तथा वैयक्तिकृत हो जाती है। चेतना का वैयक्तीकरण (Individualisation) एक प्रकार से, इच्छाओं के जाल का परिणाम है। और आत्मा इन इच्छाओं के द्वारा निर्मित परिधि बद्ध व्यक्तित्व के बाहर नहीं निकल सकता। इन बंधनों की वह कल्पना करता है; और स्व-निर्मित भ्रम-निद्रा में सोता है। वह वैयक्तिक अस्तित्व की दलदल में फँस जाता है; और मन तथा शरीर से युक्त अनेक व्यक्तियों से पूर्ण तथा अनेकानेक विभिन्नतमय संसार की कल्पना करता है।

जब सूर्य की किरणों को एक रंगविभाजक कांच (Prism) के द्वारा प्रतिबिंबित कराया जाता है, तो वे बकरी भाव के कारण, बिखर जाती हैं। पृथक्ता का अस्तित्व केवल कल्पना में है। यदि प्रत्येक किरण में चेतना होती, तो वह अपने को अन्य किरणों से पृथक् समझती। वह यह भूल जाती है, कि उसके उद्गम-स्थान में तथा उसकी दूसरी ओर, उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है। इसी भाँति, एकही महान सत्ता मायाके राज्य में उतरकर, नानात्व धारण कर लेती है, जिसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है। व्यक्तियों की पृथक्ता का अस्तित्व

केवल कल्पना में है, सत्य में नहीं। एक सर्वव्यापक आत्मा अपने आप में पृथक्ता की कल्पना करता है। इस पृथक्ता से, 'तुम' और 'तुम्हारा' के विरुद्ध 'मैं' और 'मेरा' का विचार उत्पन्न होता है। यद्यपि आत्मा वस्तुतः अविभक्त, स्वतंत्र तथा एक है, वह अपनी ही कल्पना-क्रिया के कारण, अनेक तथा विभक्त दृष्टिगोचर होता है। कल्पना सत्य नहीं है अपनी उच्चतम उडान में भी, वह सत्य से दूर रहती है। वह सत्य नहीं है, फिर चाहे वह जो कुछ भी हो। वैयक्तिक अहंकारके रूप में, आत्मा जो अनुभव बटोरता है, वह सब कल्पना है। वह आत्माका भ्रम है। सर्वव्यापक आत्मा की कल्पना से, अनेक व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है। यह माया या अज्ञान है।

पृथक् तथा सीमित व्यक्तियों के जन्म के साथ ही साथ, दृश्य जगत् भी अस्तित्व में आता है। जिस प्रकार सीमित व्यक्तित्व का पृथक् अस्तित्व केवल काल्पनिक होता है, यथार्थ नहीं उसी प्रकार, दृश्य जगत् का भी कोई स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व नहीं होता। गुणों के रूप में विभिन्नतापूर्वक उद्भासित होना उसी एक सर्वव्यापक सत्ता की अभिव्यक्ति है। जब आत्मा माया के राज्य में अवतीर्ण होता है, तब वह अपने ऊपर अनेक अस्तित्व की मर्यादाएं आरोपित कर लेता है। आत्मा का यह अपने को मर्यादित करना (Selflimitation)

चेतना की वेदी पर उसका आत्म-बलिदान है । यद्यपि वह हमेशा वही एक केवल तथा अनन्त बना रहता है, तथापि समय, विविधता तथा विकास के जगत् में अपने भासमान अवरोहण के कारण, वह एक प्रकार के समय रहित संकोच (Timeless contraction) का अनुभव करता है । तथापि विकास आत्मा का नहीं होता । विकास तो उस चेतना का होता है, जो अपनी मर्यादाओं के कारण सीमित व्यक्तित्व की जननी है ।

सीमित व्यक्तित्व का इतिहास उसके बंधनत्रय के विकास का इतिहास है, यथा मन में उसका बंधना, प्राण (शक्ति) से उसका बंधना तथा शरीर से उसका बंधना, इन तीनों

बंधनक्षेत्रों में द्वैत की प्रधानता रहती है;

बंधनत्रय तथा और आत्मा मूलतः द्वैतातीत होने पर भी, द्वैत । द्वैतबद्ध हो जाता है । द्वैत का अर्थ है, उन

द्वन्द्वों का अस्तित्व, जो परस्पर विरोध के

द्वारा, एक दूसरे को सीमित तथा समतोल करते हैं । भला और बुरा, सद्गुण और दुर्गुण, इन द्वन्द्वों के उदाहरण हैं । द्वैत-बद्ध अज्ञानाच्छादित आत्मा, भले और बुरे दोनों के चंगुल में फँसा रहता है । अच्छे और बुरे का द्वंद्व अज्ञान से उत्पन्न होता है । किंतु एक बार इसके पाश में बंधते ही, आत्मा इसी के वश में हो जाता है । शरीर, प्राण तथा मन से त्रिविध बंधन के विकास-काल में अज्ञानावृत आत्मा निरंतर चाहू के चंगुल में रहता है । वह स्थूल जगत् के भले

और बुरे की चाह करता है। वह सूक्ष्म जगत् के भले और बुरे की चाह करता है। और वह मानसिक जगत् के भले और बुरे की चाह करता है। और भले और बुरे के भेद के कारण, स्वयं चाह भी भली और बुरी हो जाती है। द्वन्द्वों के अविश्रान्त संवर्धन के द्वारा चाहक्रिया भी अनिवार्य रूप से मर्यादित हो जाती है। इससे वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में सदैव डॉवाडोल होती रहती है; वह उस अपरिच्छिन्न अवस्था में नहीं पहुँच पाती, जो जीवन के अनंत एवं परिवर्तन-रहित पार्श्व में प्राप्तव्य है। द्वैत के समाक्षेत्र के परे, अनंत की खोज करनी चाहिये। यह तभी संभव है, जब चेतना संस्कारों के अवरोध को छिन्न-भिन्न करके, सीमित व्यक्तित्व से बाहर निकल सके।

हमने देख लिया है कि चेतना का क्षेत्र संस्कारों के द्वारा सीमा-बद्ध हो गया है। यह सीमा-बद्धता मनुष्य के मानस को दो भागों में विभक्त करती है। एक भाग चेतना के क्षेत्र के अंतर्गत है, और दूसरा उससे परे है। यह अचेतन भाग अपने पूरे विस्तार-सहित, वही शक्ति है, जो पदार्थ में अंतर्हित है। उसे परंपरागत धर्म ईश्वर के नाम से संबोधित करते हैं। अंतिम

सत्य, जो लाक्षणिक ढंग से, इस प्रकार संबोधित होता है अपने वास्तविक रूप में अचेतन को चेतना में लाने पर जाना जा सकता है। चेतना को विस्तृत करने का

अर्थ है, उसकी चेतना प्राप्त करना, जो पहले अचेतन में था। चेतना के क्रमिक विजय का अंत उस पूर्ण तथा अनावृत चेतना की प्राप्ति में होता है, जिसका क्षेत्र असीम तथा कार्य अवरोध-रहित है। चेतना की इस सर्वोच्च अवस्था तथा मनुष्य की औसत सीमित, यद्यपि पूर्ण, चेतना के बीच में प्रकाशित चेतना (Illumined consciousness) के लगभग ४९ अंश हैं। ये वृद्धिशील आत्म-जागृति की प्रधान अवस्थाएं हैं।

सामान्य मनुष्यों की तिमिराच्छन्न चेतना, तथा पूर्ण सद्गुरु की पूर्णतः जागृत चेतना के बीच की खाई, संस्कारों के द्वारा उत्पन्न होती है। अहंकार की उत्पत्ति भी संस्कारों से ही है। संस्कारों का नाश, पूर्ण चारित्र्य, भक्ति तथा निःस्वार्थ सेवा के द्वारा संभव है। किंतु इस दिशा में सर्वोत्तम सफलताएं पूर्ण सद्गुरु की सहायता से ही मिल सकती हैं। आध्यात्मिक उन्नति चेतना के और अधिक विकास (Development) में सन्निहित नहीं है (क्योंकि मनुष्य में वह पूर्ण रूप में विकसित हो चुकी रहती है); किंतु संस्कारों की शृंखला से चेतना के विमोचन (Emancipation) में सन्निहित है। यद्यपि अस्तित्व की समस्त भिन्न अवस्थाओं में चेतना मूलरूप में वही रहती है, तथापि परिपूर्ण कदापि नहीं हो सकती, यदि वह अज्ञान से बिलकुल मुक्त होकर, अनन्तता के ज्ञान को अपने आप में प्रतिबिंबित न करे, अथवा यदि वह

आध्यात्मिक
उन्नति

अस्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों को प्रकाशित करती हुई, समस्त विश्व में व्यापक न हो।

प्रत्येक बार, जब तुम सो जाते हो, तुम अज्ञात रूप से (Unconsciously) अनन्त सत्य से युक्त होते हो। इस एकता में, चेतना पर अचेतना का विस्तार होता है।

यह एकता परस्पर पृथक् चेतन तथा अचेतन के बीच संबंध स्थापित करती है। प्रगाढ निद्रा किंतु इस एकता से अनभिज्ञ रहने के कारण, तुम इससे कोई सचेतन (consciously) लाभ प्राप्त नहीं करते। यही वजह है, कि जब गाढी नींद से जागते हो, तो तुम्हें अपने प्राचीन तथा नीरस व्यक्तित्व का ज्ञान होता है, और तुम उसी प्रकार कार्य तथा अनुभव करने लगते हो, जिस प्रकार सोने से पहले करते थे। यदि अनन्त सत्य से तुम्हारी एकता सचेतन हुई होती, तो जागनेपर, तुम्हें पूर्णतः नूतन तथा अनन्ततः सम्पन्न जीवन का अनुभव प्राप्त हुआ होता।

प्रगाढ निद्रा में लीन मनुष्य में चेतना तथा अचेतना का संयोग चेतन पर अचेतन के विस्तार से होता है; किंतु पूर्ण सद्गुरु में यह संयोग अचेतन पर चेतन के विस्तार से होता है। चेतना की वृद्धि-हास-क्रिया सीमित व्यक्तित्व पर लागू है। पूर्ण सत्य से सज्ञान सद्गुरु चेतन के द्वारा अचेतन पर जो एकता। विजय प्राप्त करता है, वह अंतिम एवं स्थायी होता है। अतः उसकी आत्मज्ञान की अवस्था

अविराम तथा अटूट होती है, तथा सदा सर्वदा एक-सी एवं न्हास रहित होती है। इससे तुम्हें ज्ञात होगा, कि पूर्ण सद्गुरु, सामान्य अर्थ में, कभी भी नहीं सोता। जब वह अपने शरीर को विश्राम देता है, तब अपनी चेतना में, उसे किसी प्रकार के अंतर की अनुभूति नहीं होती।

ज्ञान के मार्ग में जो बिम्ब-बाधाएँ हैं, उनका लोप हो जाने से पूर्णत्व की अवस्था में चेतना परिपूर्ण हो जाती है। चेतन के द्वारा अचेतन पर विजय प्राप्ति पूर्ण हो जाती है और मनुष्य ज्ञान की पूर्ण ज्योति में निरंतर स्थित रहता है, या ज्ञान से एक-रूप हो जाता है। वह स्वयं ज्ञान हो जाता है। जबतक मनुष्य द्वैत के आधिपत्य में रहता है, और अनेकत्व की अनुभूति को सत्य एवं अंतिम समझता है, तबतक उसने अज्ञान के राज्य को पार नहीं किया है। बोध की अंतिम अवस्था में, मनुष्य को ज्ञात होता है, कि केवल एक एवं अद्वितीय अनंत ही सत्य है। अनंत सर्वव्यापक है; सब कुछ उसके अंतर्गत है; तथा वह प्रतिद्वन्द्वीरहित है। ऐसे ज्ञान से संपन्न मनुष्य ने चेतना की चरम अवस्था प्राप्त कर ली है। इस अवस्था में पूर्ण चेतना, जो विकास के फल के रूप में प्राप्त होती है, अधुष्ण बनी रहती है; किंतु संस्कारों एवं इच्छाओं की सीमाओं का पूर्णतः अतिक्रमण हो गया रहता है। अज्ञान-जनित सीमित व्यक्तित्व सीमा-रहित ईश्वरीय व्यक्तित्व में बदल जाता है। किसी प्रकार के

पूर्णत्व की
अवस्था

भ्रम का सृजन किये बिना, सर्वव्यापक आत्मा की सीमातीत चेतना, व्यक्तित्व में केन्द्रीभूत हो जाती है। मनुष्य स्वकेन्द्रित, स्वार्थयुक्त इच्छाओं से मुक्त हो जाता है; और वह दिव्यता व्यक्त करनेवाली सर्वोपरि एवं सार्वभौम दैवी इच्छा के सहज प्रवाह का माध्यम बन जाता है। अज्ञान के अंतर्हित हो जाने से, व्यक्तित्व अपरिच्छिन्न हो जाता है। माया के पार्थक्य से अधिकृत तथा उसके द्वैत से विगुक्त होने के कारण वह उस मोक्षावस्था का आस्वाद करता है, जहाँ द्रष्ट-दृश्य-रहित ज्ञान, शुद्ध, सत् तथा निर्मल आनंद विद्यमान रहते हैं। ऐसे मनुष्य के पास, वे भ्रम नहीं फटकने पाते, जो मनुष्य को उद्विग्न तथा उद्विग्न करते हैं। ऐसा मनुष्य एक अर्थ में मृत कहा जा सकता है। उसका व्यक्तिगत अहंभाव, जो पृथक्ता का जन्म देनेवाला है, सदैवके लिए, निर्जीव हो गया रहता है। किंतु दूसरे अर्थ में, वह अधिकाधिक एवं सदा सर्वदा जीवित कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रेम अजेय तथा उसका आनंद अपरिमित रहता है। उसकी शक्ति तथा उसका ज्ञान अनादि एवं अनंत रहता है; और मानव-जाति को पूर्ण करने के इसके आध्यात्मिक कार्य के लिए, अखिल संसार इसके लिए एक क्षेत्र बनता है।

सृष्टि का आदि और अन्त

जब तक मानव मन अंतिम सत्य का उसके यथार्थ स्वरूप में स्पष्टतः ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक सृष्टि के मूल कारण तथा अभिप्राय के स्पष्टीकरण के प्रत्येक प्रयत्न में वह उद्भ्रांत होता रहता है। उसे भूत गूढ़ रहस्य से आच्छादित प्रतीत होता है, तथा भविष्य मुहर लगी हुई पुस्तक की भाँति मालूम होता है। माया की मोहिनी में फँसे रहने के कारण, मानव मन अधिक से अधिक सृष्टि के भूत और भविष्य के संबंध में, बड़ी बड़ी अटकलें लगा सकता है। किंतु उन विषयों का न तो वह अंतिम ज्ञान प्राप्त कर सकता है, और न उसके अज्ञान से ही वह संतुष्ट बना रह सकता है। 'कहाँ से' और कहाँ तक? ये दो ऐसे स्थायी तक्षिण प्रश्न हैं, जो मानव मन को दिव्य व्यग्रता (Divinely restless) देते रहते हैं।

कहाँ से ? और
कहाँ तक ।

मानव मन न तो विश्व आदिकारण के अनुसंधान की अनंत असफलता से ही संतुष्ट रह सकता, और न ऐसे अनन्त परिवर्तन से ही संतुष्ट रह सकता है, जिसका कोई लक्ष्य नहीं है। विकास अगम्य है, यदि उसका कोई आदिकारण नहीं है। और अर्थ आदि और अंत तथा प्रयोजन से शून्य है, यदि उसकी कहीं समाप्ति नहीं है। 'कहाँ से?' और 'कहाँ तक?', ये प्रश्न ही विकास शील सृष्टि के आदि और अंत की पूर्व कल्पना से उत्पन्न होते हैं। विकास के आदि का अर्थ है, समय का आदि; तथा विकास के अंत का अर्थ है, समय का अंत। विकास का आदि भी है, और अंत भी, क्योंकि समय का भी आदि है, और अंत है।

इस परिवर्तनशील संसार के आदि और अन्त के बीच में अनेक चक्र (cycles) विद्यमान हैं, किन्तु इन चक्रों में तथा इन चक्रों के द्वारा ही सृष्टि के विकास की निरन्तरता शून्य है। विकासक्रम का वास्तविक अन्त महाप्रलय अर्थात् संसार का अन्तिम संहार कहलाता है। इस अवस्था में, संसार वैसा ही हो जाता है, जैसा वह पहले था; अर्थात् संसार के महाप्रलय की मनुष्य की निद्रा से तुलना की जा सकती है। जिस प्रकार, मनुष्य की प्रगाढ निद्रा की अवस्था में, विभिन्न

अनुभवयुक्त संसार का पूर्ण अंतर्धान हो जाता है, उसी प्रकार महाप्रलय के समय, मायाविरचित अखिल दृश्य सृष्टि-प्रपंच, शून्यत्व में विलुप्त हो जाता है। मानों संसार का कभी अस्तित्व ही नहीं था।

विकासकाल में भी, सृष्टि स्वयंमेव कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वस्तुतः केवल एक अविभक्त एवं कालातीत सत्य सत्ता का ही अस्तित्व है, और उसका न आदि है और न अन्त है। वह काल से परे है। कालातीत सत्य की दृष्टि में, सारा कालक्रम पूर्णतः काल्पनिक है; तथा विगत अरबों वर्ष और आगामी अरबों वर्षों का एक क्षण के भी बराबर मूल्य नहीं है। ये मानों कभी अस्तित्व में आये ही नहीं। अतएव अनेकतामय विकासशील संसार को इस एक सत्य का सच्चा परिणाम नहीं कह सकते। यदि संसार इस एक सत्य का परिणाम हुआ होता, तो सत्य या तो एक सापेक्षिक वस्तु हुआ होता, अथवा एक मिश्रित पदार्थ। किंतु वह वैसा नहीं है। सत्य एकमेव तथा केवल है।

एक सत्य अपने आप में अखिल अस्तित्व को धारण किए हुए है। वह सब कुछ है; किंतु असत् या शून्य उसकी छाया है। सर्वसमावेशक (All inclusive)

अस्तित्व का अर्थ यह है, कि उसके अस्तित्व के बाहिर अन्य कोई वस्तु अवशिष्ट नहीं है। सत् के भाव का जब तुम विश्लेषण करते हो तो तुम अर्थ बोध के लिये

सत्य कालातीत
तथा
स्वतंत्र है।

सत्य तथा शून्य

असत् के भाव में पहुंचते हो। असत् या शून्य (Nothing) के भाव से सत् या अस्तित्व के भाव की स्पष्ट व्याख्या करने में सहायता मिलती है। सत् का परिपूरक भाग असत् या शून्य है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता, कि असत् या शून्य की अपनी स्वयं की पृथक् और स्वाधीन सत्ता है। वह स्वयंमेव कुछ भी नहीं है; और न स्वयं अपने आप वह किसी अन्य वस्तु का कारण है। अनेकता-मय तथा विकासशील संसार शून्य अथवा असत् का स्वतंत्र परिणाम नहीं हो सकता। और तुम्हें विदित हो चुका है, कि वह एक सत्य का भी परिणाम नहीं हो सकता। तो फिर यह अनेकतामय विकासशील संसार उत्पन्न कैसे होता है ?

अनेकता-मय विकासशील संसार, एकमेव सत् तथा असत् के मिश्रण से उत्पन्न होता है।
 सद्ब्रह्म और संसार वह असत् से उत्पन्न होता है, जब इस असत् या शून्य को हम एकमेव सत् की पार्श्वभूमि में देखते हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि संसार अंशतः एकमेव सत् का परिणाम है, या उसमें सत्य का भी अंश समावेशित है। वह केवल 'असत्' का परिणाम है; और वह असत् या शून्यरूप है। वह सत्य न होते हुए भी, सत्य-सा प्रतीत होता है। उसके प्रतीत होनेवाले अस्तित्व का कारण है, एकमेव सद्ब्रह्म जो मानो असत् का आधार है। जब सत्य में असत् का योग होता है, तब अनेकतामय एवं विकासवान संसार का उदय होता है।

किंतु इस योग से, अनन्त तथा स्वतन्त्र एकमेव सत्य में, किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होता। स्वतंत्र होने के कारण, किसी योग या ऋण से वह किंचित भी प्रभावित नहीं होता। एक सत्य जैसा था वैसा ही बना रहता है; अर्थात् वह असत् से उत्पन्न संसार-प्रपंच से अलिप्त तथा असंबद्ध रहता है। वह स्वयंपूर्ण तथा स्वयं-स्वतंत्र रहता है। असत् की तुलना गणित के शून्य के मूल्य से की जा सकती है। उसका खुद का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं होता; किंतु अन्य संख्या से उसका योग होने पर वह अनेक को जन्म देता है। उसी प्रकार, अनेकतामय तथा विकासवान संसार तब उत्पन्न होता है, जब असत् का सत् से योग होता है।

समस्त विकासक्रम द्वैत के सीमाक्षेत्र के अंतर्गत है। जब सत्य का एक सागर, कल्पना में आंदोलित हुआ दिखाई देता है, तब चेतना के नाना केन्द्रों से युक्त व्यक्ति तथा उसके एवं अनेकतापूर्ण संसार का जन्म होता परिस्थिति के कल्प- है। इससे जीवन अहम् (self) तथा निक भेद से विकास- 'अनहम्' (not-self) अर्थात् बाह्य परि- वान द्वैत का उदय स्थिति (Environment) में विभक्त होता है। हो जाता है। इस सीमावद्ध व्यष्टि (जो वस्तुतः एक अविभाज्य समष्टि का केवल एक कल्पित भाग है) के मिथ्यात्व तथा अपूर्णत्व के कारण, चेतना उससे सदैव के लिए आत्मीयता स्थापित किये संतुष्ट नहीं रह सकती। इस प्रकार, चेतना निरंतर व्याकुल रहती है; और वह 'अहम्' का 'अनहम्' से नाता जोड़ने का प्रयत्न

करने के लिए बाध्य होती है। अनात्म या 'अनहम्' का वह भाग अर्थात् वह बाह्य वातावरण या वस्तु जगत, जिससे आत्मीयता स्थापित करने में चेतना सफल होती है, 'अहम्' से 'भेरा' के रूप में संबद्ध होता है। और अनात्म या 'अनहम्' का वह भाग, जिससे आत्मीयता स्थापित करने में चेतना सफल नहीं होती, वह अपरिहार्य वातावरण बन जाता है, जो अनिवार्यतः 'अहम्' के लिये विरोध तथा सीमा की सृष्टि करता है।

चेतना, इस प्रकार, उसे सीमित करनेवाले द्वैत के अंत के निकट नहीं होती; किंतु उसमें रूपांतर करती है। विकृत कल्पना की क्रिया से, चेतना जब तक संचालित है, तब तक वह सफलतापूर्वक इस द्वैत का अंत नहीं कर सकती। अनात्म (अर्थात् अनहम् के परिस्थितिरूप वातावरण) को ग्रहण करने के जितने भी विविध प्रयत्न वह करती है उसका परिणाम केवल यह होता है कि आरंभिक द्वैत की स्थान-पूर्ति उसी द्वैत के असंख्य नूतन रूप करने लगते हैं। परिस्थिति के कतिपय भागों को स्वीकार करना और अस्वीकार करना, 'चाहना' और 'नहीं चाहना' के रूप में क्रमशः प्रगट होते हैं, जिससे सुख और दुःख भला और बुरा इत्यादि के द्वन्द्वों का जन्म होता है। किंतु न स्वीकार करने से द्वैत से छुटकारा मिल सकता है और न अस्वीकार करने से ही। अतः चेतना ग्रहण तथा त्याग के द्वंद्व में पडकर लगातार डाँवाडोल होती रहती है। व्यक्ति

के विकास का समस्त क्रम ही उसके द्वन्द्वों के बीच कभी इधर तो कभी उधर ढाँवा डोल होते रहता है।

सीमित व्यक्ति (Limited self) का विकास उसके युग युग संचित संस्कारों के द्वारा पूर्णतः निर्णित होता है। संस्कारों का वह निर्णायकत्व, कल्पना-जनित होते हुए भी पूर्ण एवं नैसर्गिक है। प्रत्येक कार्य और अनुभव, चाहे वे कितने भी क्षणस्थायी हों, मानसिक शरीर (Mental Body) में, एक चिन्ह (impression) अंकित कर जाते हैं। यह चिन्ह मानसिक शरीर का वास्तविक बदल (Objective Modification) करता है। चूँकि मानसिक शरीर अनेक जन्मों से, जैसा का वैसा रहता है, व्यक्ति द्वारा संचित संस्कार-चिन्ह भी अनेक जन्मों तक बने रहते हैं। इस प्रकार के संग्रहित संस्कार मानसिक शरीर में, प्रसुप्तावस्था में पड़े रहने के बजाय, जब अपने को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे इच्छाओं के रूप में अनुभूत होते हैं; अर्थात् वे मानसिक अनुभव के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। संस्कारों की दो अवस्थाएँ हैं। पहली सुप्ति की निष्क्रिय अवस्था है; तथा दूसरी अभिव्यक्ति की सक्रिय अवस्था है।

सक्रिय अवस्था के द्वारा संचित संस्कार सीमित व्यक्तित्व के अनुभव और कार्य निश्चित करते हैं। जिस प्रकार, सिनेमा में, परदे पर का एक छोटा सा कार्य कई फीट लम्बी फिल्म में प्रदर्शित होता है, उसी प्रकार, सीमित

व्यक्तित्व का एक छोटा सा कार्य अनेक संस्कारों के द्वारा व्यक्त होता है। अनुभव में इस प्रकार व्यक्त और तृप्त होकर, संस्कार व्ययीभूत हो जाते हैं। दुर्बल संस्कार मनोदेह में ही अपने को व्ययीभूत करते हैं। प्रबलतर संस्कार सूक्ष्मदेह में वासनाएँ तथा काल्पनिक अनुभव में, अपने आपको व्ययीभूत करते हैं। और प्रबलतम संस्कार स्थूल देह के शारीरिक कार्यों में व्यक्त होकर, अपने आपको व्ययीभूत करते हैं।

किन्तु संस्कारों का निरन्तर व्यय होते रहने पर भी, संस्कारों से छुटकारा नहीं मिल जाता, क्योंकि न केवल नवीन कार्यों के ही द्वारा, किन्तु संस्कारों के व्ययीभूत होने के क्रम के भी द्वारा, नवीन संस्कारों की अनिवार्यतः सृष्टि होती जाती है। अतः संस्कारों का ढेर बढ़ता चला जाता है; और व्यक्ति इस भार से मुक्त होने में अपने आपको असमर्थ पाता है।

विशेष कार्यों और अनुभवों से जो संस्कार संचित होते हैं, वे मन को वैसे ही कार्यों और अनुभवों के प्रति ग्रहणशील बना देते हैं; किन्तु एक किसी सीमा तक पहुँचने के बाद, एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के द्वारा, इस ग्रहणशील प्रवृत्ति का निरोध तथा विरोध किया जाता है। विशेष संस्कारों से प्रेरित होकर, मनुष्य एक विशेष दिशा में कार्य करता रहता है। फिर प्रतिक्रिया होती है, जिसके परिणाम स्वरूप

परस्पर-विरोधी
द्वन्द्व के द्वारा
समतुल्यता प्राप्त
करना।

वह विरुद्ध दिशा की ओर मुड़ जाता है। जिन विशेष कार्यों और अनुभवों को करने में व्यक्ति अब तक संलग्न था, अब ठीक उनके विपरीत कार्यों और अनुभवों की ओर उसकी प्रवृत्ति बदल जाती है। इस प्रतिक्रिया प्रेरित आमूल परिवर्तन से विरुद्ध संस्कारों को कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

बहुधा दो परस्पर विरोधी द्वन्द्व कल्पना की एक ही श्रृंखला में गुँथे हुए रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य, जीवन के प्रथम भाग में, यह अनुभव करता है, कि वह यश, सम्पत्ति, पत्नी तथा जीवन की समस्त प्रिय वस्तुओं से संपन्न एक लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक है; और उसी जीवन के शेष भाग में, ठीक इससे विपरीत यह अनुभव करता है, कि वह धन, कीर्ति, पत्नी तथा अपनी अन्य प्रिय सामग्रियों से हाथ धो बैठा है। कभी कभी ऐसा दिखाई देता है, कि कल्पना की एक ही श्रृंखला में दोनों परस्पर विरोध (opposites) एक साथ गुँथे नहीं रहते। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य जीवनपर्यन्त यह अनुभव करता है, कि वह युद्धों में सदैव विजयी होनेवाला एक शक्तिशाली राजा है। ऐसा होने पर, इस राजा को अपने ऐसे अनुभव को, दूसरे जन्म में पराजय या ऐसे ही अन्य अनुभव के द्वारा समतोल (Balance) करना होगी। इस प्रकार, अपनी कल्पना की श्रृंखला को पूर्ण करने के लिए, उसे एक जीवन (जन्म) और धारण करना पड़ेगा। इस भाँति संस्कारों की शुद्ध मनोमय बाध्यता (Psychological Compulsion)

आत्मा की अर्थपूर्णता संबंधी (Teleological) गंभीरतर आवश्यकता से नियंत्रित है।

कल्पना करो, कि एक मनुष्य ने इस जीवन में, किसी मनुष्य की हत्या कर डाली। इस कार्य ने उसके मानसिक शरीर में हत्या संस्कारों को संचित किया।

उदाहरण।

यदि हम मान लें, कि इन संस्कारों के द्वारा निर्मित केवल इस प्रारम्भिक प्रवृत्ति के ही द्वारा, चेतना पूर्णरूपेण निर्मित या निश्चित होती है, तो वह मनुष्य अनन्त काल तक, पुनः पुनः अन्य मनुष्यों की हत्या करता चला जायगा। एक ही प्रकार का कार्य करने से, उसे प्रत्येक बार, उसी कार्य को दोहराने के लिए, अधिकाधिक प्रेरणा मिलती जायगी। परिणाम यह होगा, कि एक ही प्रकार के संस्कारों के क्रमबद्ध निर्णायकत्व की अधीनता से, उसे कभी छुटकारा ही नहीं मिलेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं। अनुभव का नियम, संस्कारों के इस एकाङ्गी निर्णायकत्व के मार्ग में, आवश्यक अवरोध पैदा कर देता है। मनुष्य को केवल एक विरोध पक्ष (one opposite) के अनुभव की अपूर्णता तुरन्त महसूस होती है; और अपनी खोयी हुई समतुल्यता की प्राप्ति के लिए, वह अचेतनतः (unconsciously) दूसरे विरोध पक्ष का आश्रय लेता है। तदनुसार मारने के अनुभव के पश्चात्, वह हत्यारा मनुष्य, मारे जाने के अनुभव के प्रति ग्रहणशील होगा; अर्थात् मारे जाने की मानसिक आवश्यकता तथा प्रवृत्ति महसूस करेगा। दूसरे मनुष्य की हत्या

करने में, उसे हत्या की संपूर्ण परिस्थिति (जिसमें वह भागीदार है) के केवल एक पूर्वार्ध भाग का अनुभव लाभ हुआ है, अर्थात् मारने के भाग का। इस संपूर्ण परिस्थिति का पूरक उत्तरार्ध भाग है, मारा जाना, जो उस मनुष्य के अनुभव में अतिथि की भांति प्रविष्ट हो गया है। उसे मारे जाने का अनुभव एक अपरिचित तथा अज्ञात अनुभव है। इस अनुभव की अनुभूति अभी उसके लिये बाकी है। जिस एक अनुभव की व्यक्तिगत अनुभूति व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है, उसके विरुद्ध अनुभव को वह अपनी ओर आकर्षित करती है। इस प्रकार एकाङ्गी अनुभव की परिपूर्ति की आवश्यकता उत्पन्न होती है। और चेतना अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, इस नवीन एवं प्रबल आवश्यकता को पूर्ण करती है। मारने का अनुभव प्राप्त कर चुकनेवाले जिस हत्यारे मनुष्य का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह मनुष्य अपने कार्यक्षेत्र की संपूर्ण परिस्थिति का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त करने के लिए, मारे जाने की प्रवृत्ति अपने भीतर उत्पन्न करेगा।

यहां यह प्रश्न उठता है, “दूसरे जीवन में इस मनुष्य को मारने के लिये कौन पैदा होगा?” वही मनुष्य हो सकता है, जो इसके द्वारा पूर्व जन्म में मारा गया, या उसी के समान संस्कार रखने वाला, कोई अन्य मनुष्य भी हो सकता है। मनुष्यों के बीच में उनकी क्रिया प्रतिक्रिया का जो पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ करता है, उसके परिणाम

स्वरूप सांस्कारिक संबंधों या बंधनों की सृष्टि होती है, और जब वह नया शरीर धारण करता है तब वह उन्हीं मनुष्यों के बीच में जन्म लेता है, जिनसे उसका पूर्व जन्म का सांस्कारिक संबंध है, या जिनसे उसका सांस्कारिक संबंध है, उन मनुष्यों के संस्कारों के समान संस्कारवाले अन्य मनुष्यों के बीच में उसका जन्म होता है। किन्तु जीवन की व्यवस्था ऐसी होती है, जिससे विकासशील द्वैत की अवरोधशून्य क्रीडा संभव हो।

जुलाहे के करघे की डरकी की भांति, मानव मन दो अतिरेकों के भीतर विचरण करता हुआ, जीवनपट के ताने और बाने की रचना करता है। रेखा-गणित के रूपक का उपयोग करें तो यों कह सकते हैं, कि मानसिक जीवन का विकास, सीधी रेखा में नहीं होता, किन्तु टेढ़े मेढ़े (Zig-Zag) पथ में होता है। जल प्रवाह के लिये दो तटों की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता परस्पर विरोधों की जीवन प्रवाह के लिए है। यदि दो तट न हों, तो नदी की जल राशि, मार्ग में बाजुओं की ओर बिखर जाय, और गन्तव्य स्थान में, पहुंचना उसके लिये अशक्य हो जाय। इसी प्रकार, जीवन-शक्ति यदि दो परस्पर विरोधों के द्वारा सीमाबद्ध नहीं की जाती, तो उसका अनन्त तथा असंख्य तरीकों से अपव्यय

जीवन परस्पर विरोधों के बीच से अग्रसर होता हुआ, परस्पर विरोधों से परे की अवस्था में पहुंचता है।

हो जाता है। किंतु जीवन नदी के दो तटों को दो समान्तर रेखाएं नहीं समझना चाहिये। उन्हें मुक्ति के बिंदु में मिलनेवाली दो रेखाएं समझना ठीक होगा। ज्यों ज्यों मनुष्य लक्ष्य की ओर बढ़ता है, त्यों त्यों उसका इधर उधर ढाँवाडोल होना बंद हो जाता है। यह ढाँवाडोल होना उस गुडिया के ढाँवाडोल होने के तुल्य है, जिसका गुरुत्वाकर्षण (Centre of Gravity) तले में रहता है; और जो परिणामतः बैठने की अवस्थामें क्रमशः पहुंचते पहुंचते, स्थिर हो जाती है। यदि वह हिला दी जाती है, तो वह कुछ समय तक, एक ओर से दूसरी ओर झूलती रहती है, किंतु उसके झूलने का विस्तार उत्तरोत्तर कम होता जाता है, और अंत में, गुडिया विलकुल स्थिर हो जाती है। सृष्टि के विकास में परस्पर विरोधों के बीच क्रमिक ढाँवाडोल होने की क्रिया का पूर्ण लय होना, महाप्रलय है, और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में वह मुक्ति है।

द्वैत से अद्वैत में पदार्पण केवल अंश भेद का विषय नहीं है। चूंकि दोनों गुणतः भिन्न हैं, दोनों का भेद अनन्त है। द्वैतावस्था अईश्वर की अवस्था है, तथा अद्वैतावस्था ईश्वर की अवस्था है। चेतना की भूमिकाएं। द्वैतावस्था तथा अद्वैत के बीच में अनन्त भेद की जो अथाह खाई है, वही खाई चेतना की लठवी तथा सातवीं भूमिकाओं के

बीच में विद्यमान हैं। चेतना की इन दो भूमिकाओं के अतिरिक्त, अन्य सभी निम्नतर भूमिकाएं, मानों एक दूसरे से एक प्रकार की घाटी के द्वारा अलग कर दी गई हैं। किंतु यद्यपि इन भूमिकाओं का भी पारस्परिक भेद कुछ कम नहीं है, तथापि वह भेद अनन्त नहीं है; क्योंकि इन सभी भूमिकाओं में, चेतना परस्पर विरोधों के बीच क्रमिक डौंवाडोल होनेवाले सीमित अनुभव से समानतः बढ़ रही है। पहली और दूसरी भूमिका का भेद, दूसरी और तीसरी भूमिका का भेद, इस प्रकार, छठवीं भूमिका तक का भेद, बहुत बड़ा भेद होने पर भी अनन्त भेद नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है, कि चेतना की छः भूमिकाओं में से एक भी भूमिका दूसरी भूमिकाओं की अपेक्षा, सातवीं भूमिका को निकटतर नहीं है। छठों भूमिकाओं में से, प्रत्येक भूमिका तथा सातवीं भूमिका के बीच का अन्तर उसी प्रकार अनन्त है, जिस प्रकार छठवीं और सातवीं भूमिकाओं के बीच का अन्तर अनन्त है। छः भूमिकाओं के बीच उन्नति करना कल्पना में उन्नति करना है। किंतु सातवीं भूमिका की प्राप्ति कल्पना की परिसमाप्ति है; और अतः व्यक्ति की सच्चेतना (Truth consciousness) में जागृति है।

तथापि छः भूमिकाओं के बीच से जो भ्रममय उन्नति होती है, उसका पूर्णतः निवारण नहीं किया जा सकता। कल्पना का सम्यक् क्षय हो जाने पर ही, सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भूमिकाओं के बीच से उन्नति। शिष्य को जब सद्गुरु मिलता है, तब उसे तमाम छः भूमिकाएं पार करनी पडती हैं। गुरु जब शिष्य को इन भूमिकाओं के बीच से निकालता है, तब वह या तो उसकी आँखें खुली रहने देता है, या उनपर आवरण डालकर, शिष्य को भूमिकाएं पार कराता है; और शिष्य जब आँखें आवृत रहने से उन भूमिकाओं से अनभिज्ञ रहता है, जिन्हें वह पार कर रहा है, तब छठवीं भूमिका तक इच्छाएं बनी रहती हैं। किन्तु यदि उसकी आँखें खुली रहने दी जाती हैं, और उन भूमिकाओं का उसे ज्ञान रहता है, जिन्हें वह पार करता है, तब पांचवीं भूमिका के बाद एक भी इच्छा नहीं रह जाती। जब गुरु कार्य के लिए आता है, तब वह बहुधा अपने शिष्यों को आवरण से ढांक कर ले जाना अधिक पसन्द करता है; क्योंकि उसकी आँखों को खुली रख कर ले जाने की अपेक्षा, उन्हें ढांककर शिष्य को ले जाने से, वह गुरु के कार्य के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

भूमिकाओं को पार करने का अर्थ है, संस्कारों का उधेडना—उनका उन्मोदन करना—संस्कारों को उधेडने

(Unwinding) की क्रिया तथा उनके व्यय (Spending up) होने की क्रिया में जो अन्तर है, उसे सावधानी-पूर्वक समझ लेना चाहिए। व्यय होने की क्रिया में, संस्कार गति-शक्ति-युक्त होकर, कार्य और अनुभव के रूप में स्वच्छन्दता-पूर्वक प्रवाहित होते हैं। इससे संस्कारों से अन्तिम मुक्ति नहीं मिलती; क्योंकि उनके व्यय होने से, जिन नूतन संस्कारों का अनवरत संचय होता है, वे व्ययीभूत संस्कारों के रिक्त स्थान की पूर्ति कर देते हैं; और संस्कारों का व्यय होना ही और संस्कारों के संग्रह के लिए उत्तरदायी है। परन्तु संस्कारों को उधेड़ने की क्रिया में संस्कार दुर्बल होते जाते हैं; और अनन्त के लिए उत्कट उत्कण्ठा की आग्निशिखा में भस्मसात् होते जाते हैं।

अनन्त के लिए लालसा से, मनुष्य को बड़ी आध्यात्मिक वेदना का अनुभव होता है। भूमिकाओं को पार करते समय होनेवाली आध्यात्मिक पीडा की मर्म-वेधी तीक्ष्णता तथा सामान्य पीडा की तीक्ष्णता की तुलना नहीं हो सकती। सामान्य रूप से होने वाली पीडा संस्कारों का परिणाम है; किन्तु आध्यात्मिक पीडा संस्कारों के उधेड़ने से (उन्मौचन से) होती है। शारिरिक पीडा जब अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, तो मनुष्य बेहोश हो जाता है; और इस भाँति वह पीडा से छुटकारा पा जाता है। किन्तु आध्यात्मिक पीडा से ऐसा नैसर्गिक छुटकारा नहीं मिलता। तथापि आध्यात्मिक वेदना

भार-पूर्ण या नीरस नहीं होती; क्योंकि उसमें एक प्रकार का आनन्द भी मिश्रित रहता है।

अनन्त के लिए उत्कण्ठा अधिकाधिक तीव्र तथा प्रबल होती जाती है। जब यह उत्कण्ठा अपनी चरम सीमा को पहुँचती है, तब फिर वह क्रमशः शांत होती जाती है। किंतु उसके शांत होते समय, चेतना अनन्त के लिए उत्कण्ठा को एकदम त्याग नहीं देती, किन्तु अनन्त की प्राप्ति के लक्ष्य का दृढतापूर्वक आलिंगन किये रहती है। शान्त किन्तु प्रसुप्त उत्कंठा की यह अवस्था अनन्त प्राप्ति की प्रवेशिका है। इस अवस्था में उत्कंठा अन्य समस्त इच्छाओं को छिन्नमूल करने का साधन बन जाती है; और वह स्वयं अनन्त की अगाध गंभीरता से अपनी तृप्ति करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

अनन्त के लिये उत्कंठा की अनन्त-प्राप्ति द्वारा तृप्ति होने से, पूर्व चेतना की छठवीं भूमिका पार करके, सातवीं भूमिका में प्रवेश करना पड़ता है। उसे द्वैत से अद्वैत में पदार्पण करना पड़ता है। कल्पना में भ्रमण करने के वजाय, अब वह कल्पनातीत अवस्था में पहुँचती है। सद्गुरु जानता है, कि एक सत्य ही केवल सत्य है, और असत् एवं शून्य सिर्फ उसकी छाया है। उसके लिए काल अनन्तता में समा गया है। चूंकि उसे सत्य की कालातीत अवस्था का ज्ञान रहता है, वह

काल से परे रहता है; और वह अपने आप में काल के आदि तथा अंत दोनों को धारण किये रहता है। अनेक के बीच कार्य कारण-युक्त जो ऐहिक क्रिया है, उससे वह अविचलित रहता है। सामान्य मनुष्य न तो सृष्टि के आदि को जानता, और न उसके अन्त को। घटनाओं के गतिक्रम को न तो वह समझ ही पाता, और न उस पर वह शासन ही कर सकता है। अतः वह उसके द्वारा अभिभूत हो जाता है। ये घटनाएं, भेषों के समान उसके मानस में छा जाती हैं। उनके स्पष्ट दर्शन न कर सकने के कारण, वह उनका ठीक ठीक मूल्य नहीं आंक सकता। वह काल के जाल में फँस जाता है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी संस्काररंजित दृष्टि से देखता है। जिन वस्तुओं से, उसके निजी संस्कारों की पूर्ति की उसे सम्भावना दिखाई देती है, उनको ग्रहण, तथा अन्य वस्तुओं के त्याग की वृत्ति से, कार्य करने के लिए, वह लाचार हो जाता है। अतः वह, इस संसार की घटनाओं के घात-प्रतिघात से, अत्यन्त उद्विग्न रहता है। सारा दृश्य विश्व एक अवाञ्छनीय ससीमता के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित होता है, जिसे या तो पार करना चाहिए, या सहन करना चाहिए।

इसके विपरित, सद्गुरु द्वैत से तथा द्वैत पर संस्कारों से मुक्त होता है। अतः वह समस्त ससीमता से मुक्त होता है। संसार की आंध्री और तूफानों से वह प्रभावित नहीं होता। रचनात्मक तथा ध्वंसात्मक क्रियाओं से

आलोडित विश्व-कोलाहल का उसके लिये कोई विशेष महत्व नहीं है। क्योंकि वह सत्य की उस पावन तीर्थ-भूमि में प्रवेश कर चुका है, जो अनन्त महत्व का निवास स्थान है और जिसका महत्व सांसारिक माया जाल के क्षणभंगुर सार में बहुत हुआ तो केवल आंशिक झलक में प्रतिबिंबित होता है। अखिल अस्तित्व उसके स्वरूप में समाविष्ट रहता है, और अभिव्यक्त सृष्टि की समस्त क्रीडा उसके लिए केवल एक कौतुक है।

संस्कारों का स्वरूप, निर्मिति एवं कार्य ।

मानवीय अनुभव के दो पहलू हैं:— द्रष्टात्मक (Subjective) तथा दृश्यात्मक (Objective)। एक ओर तो मानवीय अनुभव के मौलिक अंग प्रत्यंगों से निर्मित मानसिक क्रियाएं हैं; और दूसरी ओर इनसे संबद्ध वस्तु और पदार्थ हैं। मानसिक क्रियाएं कुछ अंशों में तो तत्काल उत्पन्न दृश्यात्मक परिस्थिति पर निर्भर हैं; और कुछ अंशों में, संचित अथवा पूर्वानुभूत संस्कारों के कार्य पर अवलंबित हैं। इस प्रकार, मनुष्य का मन अपने को एक ऐसे सागर के बीच में पाता है, जो एक ओर पूर्व जन्माजित संस्कारों से घिरा रहता है, और दूसरी ओर विस्तृत दृश्यात्मक संसार से।

मानवीय अनुभव
का विश्लेषण ।

मानस शास्त्र के दृष्टि-कोण से, पूर्वानुभव द्वारा मन में संचित चिन्हों (Impressions) या संस्कारों की क्रिया, मनुष्य के कार्यों की नींव मानी जाती है । संस्कार अनुभव से उत्पन्न होते हैं, और वे भावी अनुभव के उत्पादक हैं । प्रत्येक विचार, प्रत्येक भाव और प्रत्येक कार्य ऐसी चिन्ह-राशियों की आधारशिला पर प्रतिष्ठित हैं । इन अनुभव चिन्ह-पुञ्जों का यदि दृश्यात्मक (objective) विवेचन करें, तो ज्ञात होगा, कि वे मनुष्य के मानस पदार्थ (Mind-stuff) के विकार हैं । ये अनुभवचिन्ह अथवा संस्कार पूर्व अनुभव के द्वारा संग्रहीत होते हैं; और वर्तमान तथा भावी अनुभव की रूप रेखा निश्चित करने में, इनका महत्वपूर्ण हाथ रहता है । मन अपने अनुभवकाल में, निरन्तर ऐसे चिन्हों या संस्कारों की सृष्टि और संचय करता जाता है । जब मन इन संसार की बाह्य वस्तुओं (जैसे शरीर, प्रकृति तथा चारों ओर के नाना पदार्थ) से घिरा रहता है, तब वह एक प्रकार से बहिर्मुख हो जाता है, और स्थूल चिन्हों या संस्कारों का सृजन करता है । और जब वह अपनी खुद की मानसिक क्रियाओं (ये मानसिक क्रियाएं उसके भूतपूर्व संस्कारों की अभिव्यक्तियां होती हैं) से उलझा रहता है, तब वह सूक्ष्म तथा मानसिक चिन्हों या संस्कारों की रचना करता है । "संस्कार पहले पैदा होते हैं, कि अनुभव पहले पैदा होते हैं?", यह प्रश्न "मुर्गी पहले पैदा होती है, या अंडा?" के समान है । दोनों एक दूसरे की शर्तें हैं; और

साथ ही साथ वर्धमान होते हैं। अतएव, मानवीय अनुभव की महत्ता को समझने की समस्या संस्कारों के स्वरूप निर्मिति तथा कार्य को समझने की समस्या के चारों ओर चक्कर लगाती है।

संस्कार, अस्तित्व में आने की विधि के अनुसार, दो प्रकार के होते हैं:— प्राकृतिक (Natural) अप्राकृतिक

(Non-natural)। जीवात्मा चेतना के प्राकृतिक तथा क्रांभिक विकासकाल में, जो संस्कार अप्राकृतिक संचित करता है, वे प्राकृतिक संस्कार संस्कार। हैं। जब जीवात्मा विभिन्न उपमानधीय

(Subhuman) रूपों को एक के बाद

एक धारण करता तथा त्यागता है, तब ये संस्कार अस्तित्व में आते हैं; तथा जीवात्मा के चारों ओर पुंजीभूत हो जाते हैं। यह तब तक की बात है, जब जीवात्मा, क्रमशः, निर्जीव दिखाई देने वाले पाषाण तथा धातु की अवस्थाओं से गुजरता हुआ, मानधीय अवस्था में पहुँचता है। मानधीय अवस्था में चेतना का पूर्ण विकास हो जाता है। मनुष्य शरीर धारण करने के पृथ, जो संस्कार जीवात्मा के चारों ओर एकत्रीभूत हो जाते हैं, वे प्राकृतिक विकास का परिणाम है। अतः, उन्हें प्राकृतिक संस्कार कहना अत्यन्त उत्तम होगा। मानधीय अवस्था में, चेतना को नैतिक स्वतंत्रता रहती है। साथ ही साथ, अच्छे और बुरे, सद्गुण तथा दुर्गुण के बीच चुनाव करने का उत्तरदायित्व भी उसे प्राप्त हो जाता है। अतः इस स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व

से युक्त होकर, जीवात्मा जो संस्कार संचित करता है, उन्हें अप्राकृतिक संस्कार कहना सर्वोत्तम होगा । क्योंकि यद्यपि ये पश्चात् मानवीय (Post-human) संस्कार सीधे प्राकृतिक संस्कारों पर आश्रित हैं, तथापि उनका सृजन जीवन की मूलतः भिन्न अवस्थाओं में हुआ है, और उनकी उत्पत्ति प्राकृतिक संस्कारों की उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन है । प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संस्कारों के बीच में, अवधि तथा परिस्थिति का उपर्युक्त भेद, उनके दृढता भेद के लिए उत्तरदायी है । प्राचीन तथा स्वतंत्रता-बंधित होने के कारण, प्राकृतिक संस्कार अप्राकृतिक संस्कारों की अपेक्षा दृढतर होते हैं । अप्राकृतिक संस्कारों का मूलोच्छेदन उतना कठिन नहीं है, जितना प्राकृतिक संस्कारों का, क्योंकि प्राकृतिक संस्कारों की धिरासत-पुरातन होती है, अतः वे अपेक्षाकृत अधिक दृढमूल होते हैं । जब तक शिष्य के जीवन में, सद्गुरु का आगमन नहीं होता, तथा जब तक शिष्य सद्गुरु का अनुग्रह प्राप्त नहीं करता, तब तक प्राकृतिक संस्कारों का उन्मूलन प्रायः अशक्य होता है ।

ऊपर जैसा समझाया जा चुका है, अप्राकृतिक संस्कार प्राकृतिक संस्कारों के अधीन रहते हैं; और प्राकृतिक संस्कार विकास-क्रम का परिणाम हैं । दूसरा महत्व का प्रश्न यह उठता है, “अनन्त तथा केवल सत्य से अभिव्यक्तीभूत जीवन, विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न क्यों होता है ?” स्वतंत्र सत्ता में, अपने आपको जानने की

प्रेरणा से, अभिव्यक्तीभूत जीवन की आवश्यकता उत्पन्न हुई। विकास द्वारा जीवन की बुद्धिशील अभिव्यक्ति अंततोगत्वा अनन्त की अन्तर्निहित स्वयं ज्ञान-स्पृहा (Will to be conscious) से उद्गत हुई। केवल तथा अव्यक्त तत्व की स्वयं-ज्ञान-स्पृहा से अभिव्यक्तीभूत जीवन का उदय होता है। विचार के द्वारा सृष्टि को समझने के लिए सृष्टि रचना के पहले, इस स्वयं ज्ञान-स्पृहा को अनन्त में, प्रसुप्तावस्था में, स्थापित करना (Posit) आवश्यक है।

किन्तु यद्यपि सृष्टि के बौद्धिक स्पष्टीकरण के अभिप्राय से अनन्त में विद्यमान प्रेरणा को स्वयं-ज्ञान-स्पृहा मान सकते हैं, किन्तु उसे एक प्रकार की अंतर्भूत इच्छा के रूप में वर्णित करना, अनन्त की आंतरिक लहर की तुलना सागर के अन्तर्गत तरंग से की जा सकती है। उसके सच्चे स्वभाव को मिथ्या करना है। उसे एक लहर या स्फुरणा के रूप में वर्णित करना अधिक युक्ति-संगत है। लहर या स्फुरणा इतनी अनिर्वचनीय, सहज तथा आकस्मिक रहती है, कि उसे यह या वह कहना, उसकी वास्तविकता को नष्ट करना है। चूंकि सृष्टि के रहस्य को समझने में, सभी प्रकार की बौद्धिक कल्पनाएं आवश्यक रूप से अपर्याप्त सिद्ध होती हैं, अतः उसके स्वरूपबोध का अत्यन्त सुगम साधन दृष्टान्त है न कि बौद्धिक तर्क रचना। जिस प्रशांत समुद्र

की सतह पर, एक ओर से दूसरी ओर अग्रसर होने वाली तरंग असंख्य बुदबुदों की विधुब्ध हलचल उत्पन्न करती है, उसी प्रकार, लहर परमात्मा की अविच्छिन्न अनन्तता से, कोटि कोटि जीवात्माओं को जन्म देती है। किन्तु सर्व-व्यापक अनन्त समस्त जीवात्माओं का आधार बना रहता है। जीवात्माएं एक आकस्मिक एवं सहज स्फुरणा की सृष्टियां हैं; अतः सृष्टि के आरम्भिक प्रकम्पन के अन्तिम लोप तक, अथवा सृष्टि चक्र की अवधि की समाप्ति तक, उनके अस्तित्व की निरन्तरता के निश्चित विधान का उन्हें पूर्व ज्ञान नहीं रहता। अनन्त की अखंडित सत्ता से एक रहस्यात्मक केन्द्र की उत्पत्ति होती है, जिसके अन्तर से सृष्टि के वैभिन्न्य-मय अनेकत्व का आविर्भाव होता है। एक क्षणांश पूर्व जो विशाल समुद्र हिम-सदृश शांत था, वह अगण्य फैनिल जीवों के जीवन से आन्दोलित हो उठता है। समुद्र की फैन-पूर्ण सतह के भीतर, ये जीव आत्म-समीमता (Self-limitation) के द्वारा, निश्चित आकार तथा रूप धारण करके पृथक्त्व की प्राप्ति करते हैं।

किन्तु यह सब केवल एक दृष्टान्त है। यह सोचना भूल है, कि जब अन्तर्लीन स्वयं-ज्ञान स्पृहा की लहर अभिव्यक्तिमय जगत् (The World of Manifestation) का अस्तित्व उत्पन्न करके, अपने को प्रभावशाली बनाती है, तब अनन्त में कोई वास्तविक परिवर्तन पैदा होता है। अनन्त की स्वतंत्र सत्ता में, संकोच या विकास क्रिया

नहीं हो सकती; और अनन्त से किसी सत्य का आधिर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि किसी यथार्थ परिवर्तन का उत्पन्न होना, अनन्त का निराकरण है। अभिव्यक्तिभूत जगत् की सृष्टि से जिस परिवर्तन का बोध होता है, वह अनन्त सत्य के सत्तास्वरूप अथवा अस्तित्व का परिवर्तन नहीं है, किन्तु केवल दृश्यमान अथवा दिखाई देनेवाला परिवर्तन है।

अनन्त सत्ता
अभिव्यक्ति के
भास से अप्रभावित
रहती है।

एक अर्थ में अभिव्यक्ति क्रिया को अनन्त की अपरिमेय सत्ता का एक तरह का प्रसार (Expansion) मानना आवश्यक है, क्योंकि इस क्रिया का अवलम्बन करके, अनन्त, जो चेतना से रहित है, अपनी चेतना प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु, चूंकि सत्य का यह प्रसार, जीवन के विभिन्न रूपों में उसकी आत्म-सीमा-वद्धता (Selflimitization) के द्वारा कार्य में परिणत होता है, अतः अभिव्यक्ति क्रिया को समयशून्य संकोच (Timeless Contraction) मानना भी युक्तिसंगत है। किन्तु अभिव्यक्ति क्रिया, चाहे सत्य का एक तरह का प्रसार मानी जाय, अथवा उसका समय-शून्य संकोच मानी जाय, एक आरंभिक स्फुरण या गतिशीलता का उदय उसके पूर्व ही होता है, जिसे बौद्धिक भाषा में अन्तर्निहित या अन्तर्लीन आत्म-जिज्ञासा मान सकते हैं। सृष्टि का अनेकत्व तथा वैयक्तिक आत्माओं का पार्थक्य केवल कल्पना में ही मौजूद है। अभिव्यक्ति-मय संसार या सृष्टि प्रपंच का अस्तित्व तो

भास या भ्रम पर आश्रित है, ताकि असंख्य वैयक्तिक आत्माओं की अभिव्यक्ति के बावजूद, परमात्मा विस्तार या संकोच अथवा दृढ़ि या ह्रास के विकार से अलिप्त रहता है, और ज्यों का त्यों बना रहता है । किन्तु यद्यपि भास या भ्रम के कारण, परमात्मा में कोई विकार, परिवर्तन या संशोधन नहीं होता, तथापि अनेक वैयक्तिक आत्माओं के रूप में उसकी दिखाई देनेवाली विभिन्नता अस्तित्व में आती है ।

आदिमतम भास या भ्रम, जिसमें परमात्मा भूमित होता है, तथा सर्व प्रथम अनुभव चिन्ह या संस्कार दोनों एक ही समय में प्रगट होते हैं । यहीं से संस्कारों की निर्मिति का आरम्भ होता है ।

आदिमतम भास पाषाण की अवस्था में प्रगट होता है । संस्कारों की निर्मिति अत्यन्त सीमित बिन्दु में आरम्भ होती है; और यह बिन्दु आत्मा के व्यक्तित्व के प्रादुर्भवन के लिए, सर्व प्रथम केन्द्र बनता है । निष्क्रिय तथा त्रिविध परिमित (Tridimensional) पाषाण, जिसमें अत्यन्त अपरिपक्व तथा आंशिक चेतना होती है, उक्त अभिव्यक्ति केन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है । चेतना का यह अनिश्चित तथा अधिकक्षित प्रकार अपने निजी रूप तथा आकार को भी यथार्थतः उद्दीपित करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होता है । और परमात्मा का अपने आपको जानने का जो सृष्टि प्रयोजन है, उसे पूर्ण करने में तो नितान्त असमर्थ ठहरता ही है । चेतना की प्रकाशन की जो कुछ

भी थोड़ीसी योग्यता पाषाण की अवस्था में होती है, वह पाषाण के शरीर से प्राप्त नहीं की जाती, किन्तु अंततोगत्वा परमात्मा से प्राप्त की जाती है। किन्तु पाषाण की, शरीर से असंबद्ध होकर, चेतना अपने क्षेत्र को विस्तृत नहीं कर सकती, क्योंकि परमात्मा पहले चेतना से एकाकार होता है, और उसके जरिए बाद में पाषाण के रूप से। और चूंकि पाषाण के शरीर तथा उसकी मन्दता की वजह, चेतना की अधिकतर उन्नति रुंध जाती है, इसलिए अभिव्यक्ति के उच्चतर रूपों एवं साधनों का विकास अनिवार्य हो जाता है। चेतना का विकास तथा उसे सीमावद्ध करने वाले शरीर का विकास दोनों साथ ही साथ होते हैं। अतः परमात्मा की व्यापकता में अन्तर्निहित स्वयं-ज्ञान-स्पृहा दिव्य संकल्प के द्वारा अभिव्यक्ति के साधनों के वृद्धिशील विकास में प्रवृत्त होती है।

इस भाँति परमात्मा अपने वास्ते अभिव्यक्ति के एक नवीन साधनों की रचना करता है। यह साधन है धातु रूप, जिसमें वह कुछ अधिक तीव्रता को प्राप्त होता है। किन्तु इस अवस्था में भी, वह बहुत अपरिपक्व रहता है। अतएव यह वनस्पतियों तथा वृक्षों के अधिक उच्चतर रूपों में स्थानान्तरित होता है। वृद्धि, ह्रास तथा पुनरुत्पत्ति की जीवन क्रियाओं की मौजूदगी के कारण, वनस्पतियों तथा वृक्षों में चेतना के विकास में काफी उन्नति हो चुकती

है। चेतना का इससे अधिक उन्नत रूप का आविर्भाव तब होता है, जब परमात्मा उन सहज ज्ञानशील, कीड़ों, पक्षियों तथा पशुओं के जीवन के द्वारा अभिव्यक्ति में प्रवृत्त होता है, जिन्हें अपने शरीरों तथा अपने बाह्य वातावरण का पूरा ज्ञान होता है, जिनमें आत्म-रक्षण का भाव पैदा हो चुकता है, और अपने बाह्य जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करने की ओर जिनका लक्ष्य रहता है। उच्च श्रेणी के पशुओं में, कुछ हद तक, बुद्धि या तर्क शक्ति भी पैदा हो जाती है, किन्तु उसकी क्रिया उनके आत्मरक्षण तथा अपने बच्चों के पालन और रक्षण इत्यादि उनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों (Natural Instincts) से पूर्णतः सीमित रहती है। अतः पशुओं में भी चेतना अपनी संपूर्ण उन्नति को प्राप्त नहीं हो पायी, जिसका परिणाम यह हुआ, कि वह परमात्मा के आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के आरम्भिक प्रयोजन की पूर्ति करने में असमर्थ रही।

आखिर परमात्मा मानवीय रूप धारण करता है। इस रूप में चेतना अपनी पूर्णतम उन्नति को प्राप्त होती है, और उसे 'अहम्' (self) तथा बाह्य जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। मानवीय चेतना। इस अवस्था में, तर्क करने के सामर्थ्य को विशालतम क्रिया-क्षेत्र प्राप्त होता तथा असीम अवसर मिल जाता है। किन्तु चूंकि परमात्मा अपनी चेतना के द्वारा स्थूल शरीर से अपने को युक्त कर लेता है, चेतना परमात्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने का

प्रयोजन सिद्ध करने में असफल रहती है। तो भी चूंकि मानवीय रूपों में, चेतना अपनी पूर्णतम उन्नति कर चुकती है, अतः उसमें आत्म-ज्ञान की सुप्त संभाव्यता रहती है। और जिस स्वयं-ज्ञान-स्पृहा से विकास का सूत्रपात हुआ वह सद्गुरुओं या मनुष्येश्वरों (Man-Gods) में फलीभूत होती है। ये सद्गुरु अर्थात् मनुष्य के रूप में ईश्वर, मानवता के शुभ प्रसून हैं।

मानवता की सामान्य चेतना के द्वारा, परमात्मा आत्म-ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि वह संस्कारसमूह अर्थात् अनुभव-चिन्ह समुदाय से ढँका रहता है। जब चेतना पाषाण या धातु संस्कारों का लपेटा जाना। की दृश्यतः निष्प्राण अवस्था को पार करती है, तदनन्तर वृक्षों के वानस्पतिक जीवन में पहुँचती है, तत्पश्चात् कीड़ों, पक्षियों तथा पशुओं के निसर्ग ज्ञानशील (Instinctive) अवस्था में प्रवेश करती है, और अन्त में मानवीय पूर्णतः चेतन अवस्था को प्राप्त होती है, वह लगातार नये संस्कारों का सृजन करती है, और उनसे आवृत्त होती जाती है। ये प्राकृतिक (Natural) संस्कार मानवीय अवस्था की उपलब्धि के बाद भी, अनेक अनुभवों एवं नाना कार्यों द्वारा उत्पन्न अप्राकृतिक (Non-natural) संस्कारों के योग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अवस्था में, अर्थात् विकासक्रम के काल में, और फिर पश्चात् मानवीय इस भांति

पूर्व मानवीय क्रियाओं के समयों में भी, संस्कारों का संचय अनवरत रूप से जारी रहता है। जिस प्रकार, एक लकड़ी पर धागा लपेटा जाता है, उसी प्रकार, वैयक्तिक आत्मा के मनपर संस्कार लपेटे जाते हैं। यह लपेटा जाना सृष्टि के आदि से शुरू होकर, विकास की सभी अवस्थाओं में, एवं मानवीय अवस्था में भी, जारी रहता है। यथार्थतः संचित समस्त प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संस्कार लपेटे गये धागे के तुल्य हैं।

चेतना के सम्मुख जो वस्तु तथा विकार उपस्थित होते हैं, उन्हीं के सबब मानवजीवन में निरन्तर नवीन संस्कारों का निर्माण होता है, और इन संस्कारों की वजह, चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। सुन्दर वस्तुएं, जिन संस्कारों को उत्पन्न करती हैं, वे चेतना में सौंदर्य के गुणानुभव तथा आनन्दास्वादन की स्वाभाविक योग्यता जागृत करने की क्षमता रखती हैं। जब मनुष्य श्रुतिमधुर गीत सुनता है, या नयनाभिराम दृश्य देखता है, तब ऐसे श्रवण या दर्शन से प्राप्त संस्कार उसे भावोत्कर्ष प्रदान करते हैं। इसी प्रकार, जब कोई विचारक के व्यक्तित्व से सम्पर्क स्थापित करता है, तब वह नवीन विचारधाराओं में दिलचस्पी लेने लगता है, और उसे ऐसी उत्साह-स्फूर्ति की अनुभूति होती है, जिससे वह विचारक के सम्पर्क में आने के पहले विलकुल

संस्कारों की क्षमता के कुछ दृष्टान्त।

अपरिचित था। न केवल वस्तुओं या मनुष्यों द्वारा अंकित चिन्ह (Impression) या संस्कार किन्तु विचारों तथा अन्ध-विश्वासों के द्वारा अंकित चिन्ह भी, चेतना की अवस्थाओं का निरूपण करने की महान क्षमता रखते हैं।

अन्ध-विश्वासों के चिन्हों की शक्ति एक पिशाच-कथा के जरिये स्पष्टतः समझ में आ जायगी। विभिन्न मानवीय

विचार क्षेत्रों में, पिशाच से सम्बन्ध

रखनेवाला विचारक्षेत्र अन्ध-विश्वासों से

अन्ध-विश्वास के

चिन्ह एवं

संस्कार।

सबसे अधिक भरा हुआ है। प्रचलित

विचारधारा के अनुसार, ये पिशाच अनेक

अद्भुत उपायों से अपने शिकार को

सताते हैं, तथा तंग करते हैं। एक

समय की बात है, कि भारतवर्ष में मुगलों के राज्य काल में,

भूत-प्रेतों की कहानियों के प्रति नितान्त संशयशील

एक उच्च शिक्षा-संपन्न मनुष्य ने, व्यक्तिगत अनुभव के

द्वारा, उसकी सचाई की जाँच करने का संकल्प किया।

उसे चेतावनी दे दी गई थी, कि वह अमावस्या की रात को

असुक्त इमशान में कभी न जाय, क्योंकि वह एक ऐसे

भयानक पिशाच का निवास स्थान था, जो इमशान की

सीमा के अन्दर, जमीन में हथौड़ी से एक लोहे की कील

ठोकने से निश्चय ही प्रगट होता है। एक हाथ में हथौड़ी

तथा दूसरे हाथ में लोहे की कील रखकर, वह अमावस्या की रात को सीधे रमशान पहुंचा। वहां पहुंचकर उसने कील ठोकने के लिए, एक ऐसा स्थल चुना, जहां घास नहीं थी। स्थान अन्धकार पूर्ण था, और वह जो कपड़ा पहने था वह भी अत्यन्त काला था; और ढीला होने के सबब लटक रहा था। जब वह जमीन पर बैठकर, हथौड़ी से कील ठोकने का यत्न करने लगा, इसी बीच में, उसके अनजान में, उसके कपड़े का एक छोर जमीन और कील के बीच में आ गया, और कील से दब गया। उसका कील ठोकना समाप्त हुआ; और उसे प्रतीत हुआ कि उसका प्रयोग सफल हुआ है, क्योंकि पिशाच से उसकी मुठभेड़ नहीं हुई। उस स्थल से लौटने के लिए, वह ज्योंही उठने लगा, त्योंही उसे जमीन की तरफ एक जोर के खिचाव का अनुभव हुआ, और वह भयभीत हो गया। पूर्व संचित संस्कारों की क्रिया के कारण वह पिशाच के अतिरिक्त और किसी वस्तु का विचार न कर सका, और उसने सोचा, कि पिशाच ने आखिर उसे पकड़ लिया है। इस विचार का धक्का ऐसे जोर का था, कि वह गरीब हृदय की धडकन बन्द हो जाने से मर गया। अन्धविश्वासजनित चिन्हों एवं संस्कारों में कभी कभी कितनी भयानक शक्ति हुआ करती है, यह इस कथा से स्पष्टतया प्रकट है।

अनुभवचिन्हों की शक्ति और प्रभाव का आवश्यकता से अधिक मूल्य नहीं आंका जा सकता। अनुभव चिन्ह घनीभूत शक्ति हैं। उसकी गतिशून्यता (inertia) उसे अचल तथा चिरस्थायी संस्कारों से मुक्त बना देती है। मन पर उसकी ऐसी गहरी छाप पड़ जाती है, कि मनुष्य की उसे छिन्नमूल करने के लिए, हार्दिक इच्छा और कोशिश के बावजूद भी, वह अपने समय में ही नष्ट होता है। और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने को कार्य में परिणत करने का उसका खुद का एक तरीका है। मनुष्य का मन परस्पर विरोधी संस्कारों का घर है। चेतना में व्यक्त होने के प्रयत्न में, बहुधा उनमें परस्पर मुठभेड़ हुआ करती है। संस्कारों की यह पारस्परिक टक्कर तथा घातप्रतिघात, चेतना में, मानसिक संघर्ष के रूप में अनुभूत होता है। जब तक संस्कारों और कुसंस्कारों दोनों से चेतना पाशमुक्त नहीं हो जाती, तब तक मानवीय अनुभव का अस्तव्यस्त, अज्ञान, विषम, समस्यापूर्ण, विमिश्रित, द्वन्द्व-प्रस्त तथा उलझन-पूर्ण होना अवश्यम्भावी है। अनुभव वास्तव में सम तथा निर्द्वन्द्व तभी हो सकता है, जब चेतना को संस्कारों के बंधन से मुक्त किया जाय।

जिन अलग अलग कार्य-क्षेत्रों से संस्कारों का संबंध रहता है, उनके मौलिक स्वभाव-भेद के अनुसार, संस्कारों की श्रेणियां की जा सकती हैं। अस्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों से संबंध होने के कारण तीन प्रकार के संस्कारों से चेतना की तीन विभिन्न अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। उनकी तीन श्रेणियां हैं:— (१) स्थूल संस्कार, जो आत्मा को स्थूल माध्यम के द्वारा स्थूल जगत् का अनुभव कराते हैं, और स्थूल शरीर से तादात्म्य स्थापित करने के लिए उसे बाध्य करते हैं।

(२) सूक्ष्म संस्कार, जो आत्मा को सूक्ष्म माध्यम के द्वारा सूक्ष्म जगत् का अनुभव कराते हैं, और उसे सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य स्थापित करने के लिए विवश करते हैं।

(३) मानसिक संस्कार, जो आत्मा को मानसिक माध्यम के द्वारा, मानसिक जगत् का अनुभव कराते हैं, और जो उसे मानसिक शरीर से तादात्म्य स्थापित करने के लिए, मजबूर करते हैं। चेतना जिन संस्कारों से भाराक्रान्त है, उनका प्रकार-भेद वैयक्तिक आत्माओं के बीच अवस्था-भेद के लिए पूर्णतः उत्तरदायी है। इस प्रकार, स्थूलचेतन आत्मा केवल स्थूल जगत् का अनुभव करते हैं, सूक्ष्मचेतन आत्मा केवल सूक्ष्म जगत् का अनुभव करते हैं; और मानसिक चेतन आत्मा केवल मानसिक जगत् का अनुभव करते हैं। इन तीन प्रकार के आत्माओं के अनुभवों के गुण-भेद का कारण उनके संस्कारों का स्वभाव-भेद है।

आत्म-ज्ञानी आत्मा अन्य समस्त आत्माओं से मूलतः भिन्न हैं, क्योंकि वे आत्मा के माध्यम के द्वारा परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करते हैं, जिसके विपरीत अन्य आत्मा केवल अपने शरीर और तत्संबद्ध संसार का अनुभव करते हैं। स्वयं-

ज्ञानी (Selfconscious) आत्माओं तथा अन्य आत्माओं की चेतनाओं में मौलिक भेद होता है; उसका कारण यह है, कि अन्य आत्माओं की चेतना संस्कारबद्ध होती है, और स्वयंज्ञानी आत्माओं की चेतना संस्कारों से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। संस्कारों से चेतना के अबद्ध तथा असंकीर्ण होने पर ही, प्रारम्भिक स्वयं-ज्ञान-स्पृहा, अंतिम तथा यथार्थ रूप में फलीभूत होती है, और अनन्त की अनन्तता तथा अभेद्य एकता की चेतना-पूर्वक अनुभूति होती है। अतः संस्कारों का नाश करके मन को बन्धन मुक्त करने की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संस्कारों को दूर करने के उपाय ।

[प्रथम भाग]

संस्कारों को रोकना: उनको जीर्ण करना और उधेडना

[उन्मोचन करना]

चेतना संस्कारों अर्थात् भूतकाल में संचित अनुभव-चिन्हराशि से आच्छन्न हो जाती है। इसी कारण, मनुष्यों को आत्म-ज्ञान नहीं होता। जिस स्वयं-ज्ञान-स्पृहा को लेकर विकास शुरू होता है, वह उनमें चेतना की सृष्टि करने में सफल होती है। वैयक्तिक आत्मा संस्कारों को अनुभव करने में, चेतना का उपयोग करने के लिए, प्रेरित होता है। वह चेतना के द्वारा परमात्मा के रूप में अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव नहीं करता। फलतः स्वयं-ज्ञान-स्पृहा

पूर्ण नहीं हो पाती, और आत्मा को परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। संस्कारों को अनुभव करने से, उसे एक सीमा देह होने का भ्रम हो जाता है। देहात्मभाव के कारण, वह मनुष्यों एवं वस्तुओं के संसार में अपनी संबंध व्यवस्था करने का यत्न करने लगता है।

वैयक्तिक आत्मा समुद्र में बूँदों के सदृश है। जिस प्रकार समुद्र स्थित प्रत्येक बूँद समुद्र से युक्त है, उसी प्रकार, भास या भ्रम के कारण व्यष्टीभूत (individualised) प्रत्येक आत्मा, वास्तव में परमात्मा से युक्त ही है, या परमात्मा ही है। परमात्मा से वह वस्तुतः पृथक् होता ही नहीं। इस पर भी, उसकी चेतना संस्कारों से ढँक जाती है; और संस्कारों का यह आवरण उसे आत्म-ज्ञान नहीं होने देता; तथा उसे नामरूपात्मक द्वैत अर्थात् माया की सीमा में बद्ध कर देता है। आत्मा की परमात्मा के साथ एकता प्राप्ति के लिए, यह आवश्यक है, कि चेतना तो बनी रहे, किन्तु संस्कार बिलकुल दूर कर दिये जाय। चेतना का विकास करने में जो संस्कार सहायक रहे हैं, वे ही परमात्मा के स्वरूप-प्रकाशन में, चेतना के लिए बाधक बन जाते हैं। स्वयं-ज्ञान-स्पृहा के सम्मुख, अब चेतना को संस्कारों से मुक्त करने की समस्या उपस्थित है, न कि चेतना को विकसित करने की।

संस्कारों से छुटकारा पाने के निम्न लिखित पांच उपाय हैं:—

(१) नये संस्कारों को रोक

देना ।

संस्कारों से छुट-
कारा पाने के
पांच उपाय ।

नित्य नवीन संस्कारों के सृजन की अनवरत क्रिया का अन्त करने से, नये संस्कार रोके जा सकते हैं । लकड़ी पर धागे को लपेटने की क्रिया से, यदि संस्कारों के संबंध की क्रिया की तुलना की जाय, तो नये संस्कारों को रोक देने का मतलब है, और अधिक धागा लपेटने की क्रिया बन्द कर देना ।

(२) पुराने संस्कारों को जीर्ण करना ।

कार्य और अनुभव में व्यस्त होने से, यदि संस्कार रोक दिये जाते हैं, तो वे क्रमशः जीर्ण या जर्जर होते जाते हैं । धागेवाली तुलना के अनुसार, जिस जगह धागा मौजूद है, उसी जगह उसके जीर्ण होने की क्रिया से, इस क्रिया की तुलना की जा सकती है ।

(३) पूर्व संस्कारों को उधेडना ।

जिस क्रम से संस्कारों का संचय होता है, उस क्रम को, मन ही मन उलटने से संस्कारों का नाश होता जाता है । धागेवाली तुलना के अनुसार, यह क्रिया लकड़ी पर लपेटे हुए धागे को निकालने या उधेडने के समान है ।

(४) कुछ संस्कारों को बिखेरना और क्षीण करना ।

संस्कारों से सन्निहित मानसिक शक्ति का यदि उन्नयन (sublimation) कर दिया जाय, और दूसरी दिशाओं की ओर मोड़ दिया जाय, तो वे संस्कार चारों ओर बिखर जाते हैं, तथा इधर उधर वितरित हो जाते हैं । इस प्रकार क्रमशः वे लुप्त होते जाते हैं ।

(५) संस्कारों को छिन्नमूल करना ।

यह संस्कारों को जड़सहित उखाड़ने के समान है । धागेवाली तुलना के अनुसार, यह क्रिया धागे को कैंची से काटने के सदृश है । संस्कारों का अंतिम मूलोच्छेदन, सद्-गुरु के अनुग्रह के ही द्वारा, संभव है ।

यह बात सावधानी पूर्वक समझ ली जानी चाहिए, कि संस्कारों के उन्मूलन के अनेक उपयोगी उपाय, एक से अधिक तरीकों में, प्रभावशाली सिद्ध होते हैं । और उपर्युक्त पांच उपाय, एक दूसरे से विलकुल भिन्न होने से श्रेणीबद्ध नहीं किये गये हैं । ये उपाय संस्कारों को दूर करते समय होने-वाले मानसिक व्यापारों के विशिष्ट तत्वों के द्योतक हैं । सुविधा के लिए, इस लेख में, हम केवल उन्हीं उपायों की चर्चा करेंगे, जो प्रथम तीन तत्वों को अत्यन्त उत्तमता के साथ स्पष्ट करते हैं यथा:—(१) नये संस्कारों को रोकना (२) पुराने संस्कारों को जीर्ण करना तथा (३) पूर्ण संस्कारों को उधेडना । अंतिम दो तत्वों [(४) संस्कारों को बिखेरना

तथा उन्हें समुन्नत (sublimate) करना और (५) संस्कारों को छिन्नमूल करना] पर दूसरे लेख में प्रकाश डाला जायगा ।

नित्य संचित होनेवाले संस्कारों के पाश से, मन को मुक्त करने के लिए, नए संस्कारों की रचना का अंत करना आवश्यक है । त्याग आंतरिक हो सकता है या बाह्य । बाह्य अथवा शारीरिक त्याग में, उन सभी वस्तुओं को छोड़ना शामिल है, जिन पर मन आसक्त है, जैसे घर, मां-बाप, स्त्री, बच्चे, मित्र, धन, आराम के साधन तथा भोग की स्थूल सामग्रियां । आंतरिक अथवा मानसिक त्याग में, समस्त इच्छाओं को छोड़ना सम्मिलित है, विशेषकर इन्द्रियों के भोगपदार्थों की वासना । यद्यपि बाह्य त्याग करने से, आंतरिक त्याग भी नहीं हो जाता, तो भी बाह्य त्याग आंतरिक त्याग का साधन है । आध्यात्मिक स्वतंत्रता आंतरिक त्याग से प्राप्त होती है, न कि बाह्य त्याग से; किंतु बाह्य त्याग आंतरिक त्याग का सहायक है । जो मनुष्य अपने अधिकार की वस्तुओं को त्यागता है, वह उनसे अपना संबंध विच्छेद करता है । इसका मतलब है, कि वे वस्तुएं उसके लिए नवीन संस्कारों की भृष्टि नहीं करतीं । इस भांति बाह्य त्याग संस्कारों से छुटकारा पाने की दिशा में, एक महत्वपूर्ण कदम है । इसके द्वारा, नए संस्कारों की रचना की क्रिया बंद हो जाती है । बाह्य त्याग से केवल इतना ही नहीं होता । सभी वस्तुओं के त्याग से, पूर्व बंधनों

का भी त्याग हो जाता है। इन वस्तुओं से संबद्ध प्राचीन संस्कार उसके मन से दूर हो जाते हैं, और उन्हें व्यक्त होने का अवसर न मिलने के कारण वे जीर्ण हो जाते हैं।

अधिकांश मनुष्यों के लिए, बाह्य त्याग, संस्कारों के जीर्ण होने के लिए, उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करता है। सम्पत्ति तथा सत्ता से सम्पन्न मनुष्य के लिए, भोग तथा अपव्यय के जीवन में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है। उसकी परिस्थितियां, उसे प्रलोभनों के जाल में फंसाने के लिए, अधिक उपयुक्त हैं। जिस प्रकार शिल्पी काठ-फोड़कर शिल्प-निर्माण करता है, उसी प्रकार परिस्थिति-रूपी शिल्पकार छेद-वेध कर मनुष्य के व्यक्तित्व को गढ़ता है। अपनी परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर सकना या न कर सकना मनुष्य के चरित्र बल पर निर्भर है। यदि वह बलवान है, तो अपनी परिस्थिति के घात प्रतिघात के बीच में रहते हुए भी, वह अपने विचार और कार्य में स्वतंत्र रह सकता है। यदि वह दुर्बल है, तो वह अपनी परिस्थिति के प्रभाव के वशीभूत हो जाता है। उसके बलवान होने की हालत में भी, सामूहिक जीवन प्रणाली या सामाजिक विचारपरम्परा की प्रबल धारा के आगे उसके पैर उखड़ जाने की संभावना रहती है। परिस्थितियों का शिकार होने से बिलकुल बच सकना, अथवा विचार प्रवाह के प्रबल आक्रमण को झेल सकना, यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य होता है। यदि

कोई परिस्थितियों का सामना करता है, तो सामूहिक भाव की उन्मत्त लहर में, उसके वह जाने की सम्भावना है। इस भांति, विचार रूढ़ि से बद्ध हो जाता है, जिससे छुटकारा पाने में वह अपने आपको असमर्थ पाता है। बाह्य प्रभाव तथा परिस्थितियों का सामना करना तथा उनपर विजय प्राप्त करना यद्यपि कठिन है, तथापि उनसे दूर होना सरल है। प्रलोभन एवं भोग की सामग्रियों से यदि धिरे नहीं, तो अनेक मनुष्य पवित्र तथा सीधा-सादा जीवन बिता सकें। समस्त अनावश्यक वस्तुओं का त्याग संस्कारों को जीर्ण करने में सहायक है, अतः स्वतंत्र जीवन का साधन है।

बाह्य त्याग के दो मुख्य रूप हैं, जिनका विशेष आध्यात्मिक महत्त्व है, जैसे (१) एकान्त और (२) उपवास। सांसारिक क्रियाओं की नाना उलझनों और झंझटों से, अपने आपको अलग कर लेने से तथा आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर एकान्तवास करने से, समूहगत अभ्यास से संबंध रखनेवाले संस्कार जीर्ण होते हैं। किन्तु स्वयमेव यह एक साध्य नहीं है, किन्तु केवल साधन है। एकान्त की ही तरह, उपवास का भी विशेष आध्यात्मिक महत्त्व है। खाना तृप्ति है : उपवास अस्वीकार है। भोजन करने का आनंद प्राप्त करने की इच्छा के रहते हुए भी, भोजन न करना शारीरिक

एकान्त तथा
उपवास।

उपवास है। लोभ-वश तथा आनंद लूटने के लिए नहीं किन्तु शरीर रक्षणमात्र के लिए, भोजन करना मानसिक उपवास है। बाह्य उपवास का अर्थ है, भोजन से प्रत्यक्ष संबंध न रखना, ताकि ऐसा करने से मानसिक उपवास में सहायता मिले।

भोजन जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। और उसे लगातार अस्वीकार करना स्वास्थ्य के लिए निःसंशय घातक सिद्ध होगा। अतः, बाह्य उपवास प्रसंग तथा आवश्यकता के अनुसार, मर्यादित समय तक ही, करना चाहिए। ऐसा उपवास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक भोजन-लिप्सा पर पूर्ण विजय प्राप्त न हो जाय। उपवास करने से, भोजन की लिप्सा का नियमन करने के लिए, सभी प्रधान मानसिक शक्तियां क्रियाशील रहती हैं। फलतः भोजनासक्ति से मन को मुक्त करना संभव हो जाता है। शरीर गठन अथवा आत्म प्रदर्शन के हेतु से किये जानेवाले बाह्य उपवास का कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। आत्म-विज्ञापन अथवा अहंकारप्रदर्शन के साधन के रूप में उपवास का उपयोग नहीं करना चाहिए। इतना अधिक नहीं करना चाहिए, कि जिससे शरीर को अवांछनीय क्षति पहुंचे, और वह दुर्बलता की चरम सीमा को पहुंच जाय। दीर्घकालीन उपवास के द्वारा, देह-दमन या आत्मोत्पीडन करने से भोजनासक्ति से छुटकारा नहीं मिलता। इसके विपरीत, ऐसा करने से एक प्रतिक्रिया होती है; और उपवास

के बाद भोजनेच्छा इतनी तीव्र हो जाती है, कि मनुष्य रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर, आवश्यकता से अधिक तथा अनावश्यक भोजन करने के लिए, बाध्य हो जाता है। तथापि यदि बाह्य उपवास, आध्यात्मिक अभिप्राय से, सामान्य मर्यादा के भीतर किया जाता है, तो वह आंतरिक उपवास का साधन बन जाता है। सर्वान्तःकरण से विश्वास-पूर्वक किये गए उपवास भोजनेच्छा-संबंधी संस्कारों को उधेडते हैं।

तपस्या के द्वारा भी बहुतेरे संस्कार उधेडे जा सकते हैं। गलत कार्य करने के बाद, भूल मालूम हो जाने पर,

पश्चात्ताप की भावना को तीव्र करना तथा प्रगट करना तपस्या है। तपस्या।

आत्म-भर्त्सना के साथ मन-ही-मन अपनी भूलों का स्मरण करना पश्चात्ताप कहलाता है। तपस्या का उद्देक करनेवाली विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से लाभ उठाने, या भावातिरेक के क्षणों में अनुकूल रुख धारण करने, या आत्मग्लानि से क्षतविक्षत तथा रक्त-रंजित हृदय से बीती घटनाओं का स्मरण करने, और अपने कार्य का खंडन करने की जानवृद्ध कर चेष्टा करने से, पश्चात्ताप सुगम तथा सरल हो जाता है। ऐसी तपस्या उन संस्कारों को उधेडती है, जो दुष्कर्मों के लिए जिम्मेदार हैं। गंभीर भाव से ओत प्रोत हो कर, जो आत्म-खंडन किया जाता है, उससे क्रोध, लोभ तथा मोह के संस्कारों का निराकरण होता है।

कल्पना करो कि लोभ, क्रोध या वासना को न रोक सकने के कारण, एक मनुष्य ने किसी मनुष्य को ऐसी क्षति पहुंचायी है, जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। किसी न किसी समय मर्म-विदारक पश्चात्ताप की प्रतिक्रिया का वह अवश्य ही शिकार होगा, और उसे तीक्ष्ण अंतर्वेदना का अनुभव होगा। इस समय, यदि वह उस बुराई को, जिसके लिए वह जिम्मेदार है, पूर्णतः मनमें स्पष्ट करता है, तो भाव-पूर्ण अनुभूति की तीव्रता, उसकी उन प्रवृत्तियों को नष्ट करती है, जिनके कारण वह स्वयं खंडित है।

आत्म-खंडन कभी कभी आत्मोत्पीडन के विभिन्न रूपों में प्रगट होता है। कुछ संत पश्चात्ताप की मानसिक अवस्था में शरीर पर घाव कर लेते हैं। किंतु पश्चात्ताप प्रकट करने के ऐसे कठोर उपाय, सर्व साधारण के लिए, हितकर नहीं हैं। कुछ हिन्दू साधक उन सभी मनुष्यों के चरणों पर नतमस्तक होने का नियम बना लेते हैं, जिनसे वे मिलते हैं; और इस रीति के अवलंबन से अपने में नम्रता उत्पन्न करने का यत्न करते हैं। प्रबल इच्छा-शक्तियुक्त एवं दृढ चरित्र-संपन्न मनुष्य, अहंवृत्ति-मर्दन की तपस्या के द्वारा वांछित फल की प्राप्ति कर सकते हैं। ऐसी तपस्या, सत्कार्यों एवं दुष्कार्यों से संबद्ध विविध संस्कारों को उधेडती है, तथा उखाड़ फेंकती है। जिनकी इच्छा-शक्ति कमजोर है, वे भी सहानुभूतियुक्त तथा प्रेमपूर्ण पथ-प्रदर्शन की उपलब्धि होने पर, तपस्या का आश्रय ले

कर, इच्छित लाभ प्राप्त कर सकते हैं। तपस्या का सावधानी के साथ पालन तथा अभ्यास किया जाता है, तब मानसिक त्याग (Revocation) से, विचार एवं आचारण की अवांछनीय पद्धतियों से मनुष्य निश्चयात्मक रूप से मुक्त हो जाता है, और वह शुचिता तथा सेवा का जीवन अपना लेता है।

इस बात का स्पष्ट ध्यान रखना आवश्यक है, कि तपस्या में यह भय रहता है, कि गई भूलों पर मन आवश्यकता से अधिक विचार करता रहे, और इस प्रकार, तुच्छ बातों की चिंता करके, रुदन तथा विलाप को अपनी अस्वास्थ्यकर आदत बना डाले। ऐसे व्यर्थ तथा विवेकशून्य भावोद्रेक से अधिकतर मानसिक शक्ति का अपव्यय ही होता है। इससे संस्कारों को उधेड़ने या जीर्ण करने में कोई सहायता नहीं मिलती। प्रतिदिन की दुर्बलता या भूल के लिए, प्रतिदिन पश्चात्ताप करने का नाम तपस्या नहीं है। तपस्या का यह मतलब नहीं, कि अपनी गलतियों के लिए असामान्य ढंग से चिंतित और उदास होने की शुष्क तथा नीरस आदत डाल ली जाय। भूलों के कारण अपने दुःख को बढा लेना तपस्या नहीं है। जिन कार्यों को करने से पश्चात्ताप करना पडता है, उन कार्यों को भविष्य में नहीं करने का दृढ संकल्प करना सच्ची तपस्या है। यदि तपस्या के परिणाम-स्वरूप, हमारा स्वाभिमान तथा आत्म-विश्वास

नष्ट होता है, तो हमारी तपस्या ठीक ढंग से नहीं हुई है। वास्तविक तपस्या तो वही है, जिससे कुछ प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति असंभव बना दी जाय।

इच्छाओं की पूर्ति तथा अभिव्यक्ति पर रोक लगा देना भी संस्कारों को जीर्ण करने तथा उधेड़ने का एक उपाय है। इच्छाओं के अस्वीकार में लोगों की शक्ति तथा क्षमता भिन्नभिन्न होती है। जिनमें इच्छाएं प्रचंड मानसिक वेग के साथ उत्पन्न होती हैं, वे उन्हें उनके उद्गम स्थान में ही रोकने में असमर्थ होते हैं; किंतु वे ऐसी इच्छाओं को कार्य में अभिव्यक्त होने से वंचित कर सकते हैं। इच्छाओं की उत्पत्ति को न रोक सकने पर भी, मनुष्य उन्हें कृति रूप में परिणत होने से रोक सकता है। कृतिनिग्रह द्वारा इच्छाओं का निषेध भावी इच्छाओं के बीजारोपण का निवारण करता है। इसके विपरीत यदि मनुष्य अपनी इच्छाओं को कृति में परिणत करता है, तो वह कुछ अनुभव चिन्हों एवं संस्कारों को व्यय तथा क्षीण भले ही करता है। किंतु इच्छाओं की पूर्ति-क्रिया के ही द्वारा वह नये संस्कारों का सृजन करता है। इस भाँति, वह उन भावी इच्छाओं का बीज बो रहा है, जो अपनी बारी आने पर, अपनी पूर्ति की माँग करेंगी। अभिव्यक्ति तथा पूर्ति के द्वारा, संस्कारों को व्यय तथा क्षय करने की प्रक्रिया स्वयमेव संस्कारों से मुक्ति नहीं प्रदान करती।

इच्छाओं की पूर्ति
न होने देना

जब इच्छाएं उदित होती हैं, और इनके कार्य में परिणत होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, तो इन इच्छाओं पर सहज भाव से गंभीर चिन्तन के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। इस गंभीर चिन्तन से, तत्संबद्ध संस्कार जर्जर होते हैं। तथापि यह ध्यान रखना चाहिए, कि यदि ऐसा गंभीर चिन्तन, इच्छाओं का मन-ही-मन भोग करने का रूप धारण कर ले, तो अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। जब इच्छाओं का स्वागत करने एवं मन में उन्हें स्थान देने का चेष्टा पूर्ण असंयत प्रयत्न किया जाता है, इच्छाओं के ऐसे चिन्तन का लेशमात्र आध्यात्मिक महत्व तो रहता ही नहीं, किन्तु ऐसे चिन्तन से सूक्ष्म संस्कारों की सृष्टि होती है। मानसिक चिन्तन, चेतना में उत्पन्न होनेवाली इच्छाओं की सज्जान स्वीकृति से कदापि युक्त नहीं होना चाहिए। और इन इच्छाओं को स्मृति-स्थायी बनाने का जरा भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जब इच्छाओं के लिए, कृति में उनका अभिव्यक्त होना या पूर्ति प्राप्त करना निषिद्ध कर दिया जाता है, और इस प्रकार, इच्छाओं को कार्य में परिणत होने से वंचित करके, उन्हें अस्वी-कृतिमूलक एवं गंभीर चिन्तनशील चेतना की प्रखर ज्वाला में दग्ध होने दिया जाता है, तो इन इच्छाओं के बीज भस्मीभूत हो जाते हैं। इच्छाओं का निषेध करने तथा उनके प्रत्युत्तरस्वरूप शारीरिक कार्य का नियमन

करने से, समय आने पर, पूर्व संस्कारों का सहज ही तथा स्वाभाविक रूप से निराकरण हो जाता है।

इच्छाओं का निषेध, इच्छा-शून्यता अथवा चाह-विहीनता के लिए तैयारी है। इच्छा-शून्यता से ही सच्ची स्वतंत्रता मिलती है। चाह आवश्यक रूप से एक बंधन है। चाहे चाह की पूर्ति की जाय अथवा न की जाय। जब उसकी पूर्ति की जाती है, तो और अधिक चाह की उत्पत्ति होती है; और इस प्रकार, आत्म-बन्धन दृढतर होता जाता है; और जब उसकी पूर्ति नहीं की जाती तो निराशा और पीडा का अनुभव होता है, जो अपने संस्कारों के द्वारा, अपने निजी ढंग से आत्मस्वातंत्र्य को श्रृंखलाबद्ध करती हैं। चाह का कोई अंत नहीं है। मन के बाह्य तथा आन्तर उत्तेजक मात्रा-स्पर्श (Stimuli) उसे निरन्तर किसी वस्तु की चाह या अरुचि (जो चाह का ही दूसरा स्वरूप है) की मरीचिका में भ्रमित करते रहते हैं। बाह्य मात्रा स्पर्श, देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद लेने, तथा स्पर्श करने की उत्तेजनाएं हैं। विकास क्रम के समय में, तथा मानवीय जीवन काल में संचित संस्कार-समूह से तथा गत कालीन जीवन की स्मृति से, मानस-पदार्थ में जो मात्रा-स्पर्श उदित होते हैं वे आन्तर मात्रास्पर्श हैं। समस्त बाह्य एवं आन्तर मात्रास्पर्शों के बीच में, स्थित होकर भी, जब मनुष्य का मन अधिचलित तथा स्थिर रहने के लिए, अभ्यस्त हो जाता है, तब वह चाह विहीनता की अवस्था

को प्राप्त होता है; और मात्रास्पर्श जनित परस्पर विरोधों से परे अनन्त सत्य के अतिरिक्त, किसी दूसरी वस्तु की चाह न करने से, चाह-संबंधी संस्कारों का उधेडा जाना संभव होता है।

चाह की अवस्था में मन की समतुल्यता भंग हो जाती है। और चाहविहीनता की अवस्था में, मन की समता स्थिर रहती है। सुखद या दुःखद, प्रिय या अप्रिय, सभी तरह के मात्रास्पर्शों से अविश्राम बन्धनमुक्तता के द्वारा, चाह-विहीनता की समतोलावस्था स्थायी रखी जा सकती है। इस संसार के सुख दुःखों से अप्रभावित रहने के लिए, मन का बाह्य एवं आन्तर मात्रास्पर्शों के प्रति विलकुल अनासक्त रहना आवश्यक है।

यद्यपि अपनी रचनात्मक सूचनाओं के द्वारा, मन निरन्तर किल्लेबन्दी करता रहता है, तथापि स्वाभाविक एवं मानसिक जगत् के समुद्र में उठनेवाली आकाशिक एवं अप्रत्याशित तरंगों के द्वारा, उसके रक्षादुर्गों के बहाये जाने की संभावना सदैव विद्यमान रहती है। ऐसे प्रसंगों पर संभव है, तुम विलकुल हिम्मत हार जाओ, किंतु अनासक्ति का रुख बनाये रखने से, तुम सुरक्षित रह सकते हो। "नेति", "नेति", "यह नहीं", "यह नहीं", के निषेधात्मक सिद्धान्त को आचरण में लाना ही अनासक्ति का रुख धारण

करना है। परिमितअनुभवजनित तथा आकर्षक परस्पर-विरोधों के प्रति जागरूक होकर, अनासक्त रहने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। केवल अप्रिय मात्रास्पर्शों का निषेध करना तथा प्रिय मात्रास्पर्शों के प्रति, मन ही मन आसक्त रहना, संभव नहीं है। द्वन्द्वों के हमलों से, यदि मन को अविचलित रखना हो, मात्रास्पर्शों से अधिक अविचलित रहना हो, तो मन रागमूलक मात्रास्पर्शों से आसक्त नहीं बना रह सकता। दोनों द्वन्द्वों से पूर्ण रूपेण अनासक्त या आलिप्त रहने से ही, समता की अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

विधायक (Positive) संस्कारों का 'हां, हां' सूचक अर्थ 'न', 'न' निषेधात्मक (Negative) रूप से ही उच्छिन्न हो सकता है। संन्यास के सभी रूपों में, यह नकारात्मक अथवा निषेधात्मक तत्व, आवश्यक रूप से विद्यमान है। त्याग, एकान्त, उपवास, तपस्या, वैराग्य तथा चित्तवृत्तिनिरोध आदि साधनों में यही तत्व मौजूद है। इन सब साधनों एवं उपायों (जिन पर व्यक्तिगत रूप से इस लेख में प्रकाश डाला गया है) का चारु समन्वय संन्यास के एक आरोग्य-प्रद रूप को जन्म देता है, जिसमें क्लेश तथा परिश्रम की आवश्यकता नहीं रहती। किंतु सुखद तथा सहजसाध्य संन्यास के सिद्धि के लिए,

संन्यास के विभिन्न रूप में निषेधात्मक तत्व की सीमा।

यह आवश्यक है, कि उक्त साधनों में निहित निषेधात्मक तत्व स्वाभाविक रूप से जीवन में प्रवेश करें, ताकि उनके दुरुपयोग से मन में अन्यान्य द्वन्द्वों का आगमन न हो।

मन पर ज्यादाती या जोर-जबरदस्ती अर्थात् उसे हठात् या बलपूर्वक संन्यास की ओर मोड़ने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। संन्यास-संबंधी साधनों के मार्ग में, जीवन को दमनपूर्वक व्यवस्थित करना अपने कुछ सद्गुणों के विकास पर कुठाराघात करना है। जब मनुष्य-स्वभाव के सद्गुण धीरे धीरे स्वाभाविक गति से विकसित होने के लिए स्वतंत्र रहते हैं, तब वे सापेक्ष सत्त्यों के ज्ञान का उद्घाटन करते हैं, और परिणामतः संन्यास के जीवन की ओर सहज प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं। संन्यास के जीवन को अपनाने के लिए, मन पर जोर जुल्म या जल्दबाजी करने का प्रयत्न करना प्रतिक्रिया को आमंत्रित करना है।

कुछ आसक्तियों से मुक्त होने की प्रक्रिया तथा कुछ दूसरी नई आसक्तियों के सृजन की प्रक्रिया एक ही साथ होती है। आसक्तियों के अत्यंत स्थूल रूप वे हैं, जो बहिर्मुख होते हैं, अर्थात् जो वस्तुजगत् से संबद्ध होते हैं। किंतु जब संसार की बाह्य वस्तुओं की आसक्ति से, मन को मुक्त किया जाता है, तो अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, वह मनोमय (Subjective) सूक्ष्मतर आसक्तियों का आश्रय लेता है। स्थूल वस्तुओं के प्रति

अनासक्ति के भाव को, कुछ अंशों तक विकसित कर लेने के अनन्तर, मन सरलता पूर्वक अहम्न्यता के उस सूक्ष्म रूप को विकसित करने लगता है, जो एकाकीपन तथा दंभ के द्वारा प्रकट होता है। एक बंधन से मुक्त होते समय, हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये, कि हमारा 'अहम्' किसी दूसरे प्रकार के बंधन से बद्ध न होने पावे। हमारी अनासक्ति कर्तव्य-पराङ्मुखता के रूप में भी नहीं होनी चाहिये। सांसारिक जीवन के घातप्रतिघातों तथा आँधी-तूफानों का सामना न कर सकने के कारण, उनसे मुँह मोड़ना अनासक्त होना नहीं, किंतु कर्तव्यपराङ्मुखता है। कलह तथा संघर्ष के सम्मुख असहाय हो कर पीठ फेर लेना दुर्बलता है। अदम्य शक्ति तथा चरित्र की पवित्रता से सभी परिस्थितियों का सामना करते हुए, उन वस्तुओं का त्याग करना, तथा उनसे निरासक्त रहना, जो हमारे अनन्त एवं शुद्ध स्वरूप को परिमित करती हैं, वास्तविक अनासक्ति है। 'नेति' 'नेति' के कोरे सूत्र से चिपके रहना अनासक्ति नहीं है। प्रबुद्ध अवस्था के लिए गंभीर उत्कंठा के न रहते हुए भी, शब्दासक्ति का भूत मन पर सवार हो जाता है। किसी कोरे तिषेधात्मक मंत्र से दिलचस्पी रखना, और मन ही मन प्रलोभनों को गुनना, दोनों साथ साथ किये जाते हैं। सर्वातिकरण से, पूर्ण अनासक्ति का पालन तभी संभव है, जब वह अनासक्ति हमारे स्वभाव का ही एक मुख्य अंग बन जावे।

विकासक्रम के समय में, तथा मानवीय जीवन की अवस्थाओं में, संचित होनेवाले विधायक संस्कारों को नष्ट करने का एक मात्र उपाय, उनके प्रति 'नहीं', 'नहीं' का निषेधात्मक रुख धारण करना है। किंतु, यद्यपि यह पद्धति विधायक संस्कारों को नष्ट कर देती है, तथापि वह साथ ही साथ, निषेधात्मक संस्कारों की रचना करती है। ये निषेधात्मक संस्कार, अपने निजी ढंग से, मन को सीमित करते हैं, और एक नई समस्या खड़ी कर देते हैं। 'नहीं', 'नहीं' का रुख, तथा तदनुसार आचरण, इतना शक्तिशाली तथा सदृढ होना चाहिए, कि परिणामतः समस्त स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संस्कार छिन्नमूल हो जायँ; किन्तु उद्देश्य-सिद्धि के उपरान्त, अन्ततोगत्वा इस निषेधात्मक रुख को भी त्यागना आवश्यक है। अंतिम आध्यात्मिक अनुभव निषेधात्मक नहीं है। उससे किसी निषेधात्मक सूत्र से बद्ध करना तो उसे एक बौद्धिक विचार से परिमित करना है। मन स्वयं अपने को बंधनमुक्त करने के लिए, निषेधात्मक सूत्र का उपयोग करता है; किंतु उस को भी त्यागे बिना जीवन के अंतिम ध्येय की उपलब्धि नहीं होती। विचार अपनी खुद की गति से जिन द्वन्द्वों की सृष्टि करता है, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए, विचार का ही उपयोग किया जाता है। किंतु इस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर, विचार

को ही तिलांजलि देने की जरूरत पड़ती है। यह मन के परे जाने के समान है। मन तथा उसकी इच्छाओं से संबंध भंग करने से ही, मन का अतिक्रमण किया जा सकता है। शरीर, विचार, तथा अन्य निम्नतर भावों को दृश्यवत् (Objectively) देखना आनन्द-पूर्ण अनासक्ति में आरूढ होना तथा समस्त संस्कारों का निराकरण करना है। ऐसा करने का अर्थ, आत्मा को उसके स्वनिर्मित भ्रमों, जैसे 'मैं शरीर हूँ' 'मैं मन हूँ' या 'मैं विचार हूँ' से मुक्त करना है, तथा साथ ही साथ, 'मैं ईश्वर हूँ', 'अनल हक' या 'अहं ब्रह्मास्मि' की अवस्था की उपलब्धि करना है।

संस्कारों को दूर करने के उपाय ।

(द्वितीय भाग)

संस्कारों को बिखेरना तथा क्षीण करना ।

पिछले लेख में मैंने संस्कारों को दूर करने के उपायों को समझाया है जो मुख्यतः उन विधायक संस्कारों का निषेध करने के सिद्धान्त पर आश्रित हैं जो सत्य को चेतना से ओझल रखते और इस भांति आत्म ज्ञान, जिसके लिए समस्त सृष्टि की रचना हुई है की प्राप्ति में रुकावट पैदा कर देते हैं। विधायक संस्कारों का निषेध करने के ये सभी उपाय अंततः शरीर और मन के संयम पर अवलंबित हैं। शारीरिक कार्यों के संयम की अपेक्षा आदत से पैदा होने वाली मानसिक प्रवृत्तियों का संयम कहीं ज्यादा मुश्किल है। मन के क्षणभंगुर तथा छलपूर्ण विचारों तथा इच्छाओं का नियमन अत्यंत धैर्य तथा अनवरत और आप्रहयुक्त अभ्यास से ही संभव है। पुराने संस्कारों को उधेड़ने और जीर्ण करने के लिए तथा नये संस्कारों जो पुराने संस्कारों के ही व्यक्त रूप हैं, के मूजन को रोकने के लिए मानसिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का नियंत्रण आवश्यक है। आरंभ में संयम कठिन होने पर भी सच्चे प्रयत्न के द्वारा वह क्रमशः स्वाभाविक तथा सहज-साध्य हो जाता है।

संस्कारों का निषेध संयम के द्वारा संभव है।

जब तक मन संस्कारों को दूर करके अपने को सीमा-युक्त करने की कोशिश करता रहता है तब तक संयम चेष्टा-पूर्ण तथा श्रम-साध्य रहता है, किंतु उसके संस्कारों से छुटकारा पाते ही संयम सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। क्योंकि फिर मन स्वतंत्रता और ज्ञान के वायुमंडल में कार्य करता है। ऐसा संयम चरित्रबल तथा चित्त शुद्धि से उत्पन्न होता है अतः वह अनिवार्यतः अत्यंत निर्भयता शांति एवं स्थिरता प्रदान करता है। असंयत तथा अनियमित रूप से कार्य करते रहने पर जो मन अशक्त और दुर्बल दिखाई देता है, वह संयम तथा नियंत्रित होने पर महान शक्ति का उद्गम बन जाता है। मानसिक शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए तथा विचार-बल का क्रियायत के साथ उपयोग करने के लिए संयम की अनिवार्य आवश्यकता है।

संयम का उद्देश्य है मन की मुक्त तथा स्वतंत्र क्रिया को संभव बनाना। संयम यदि बिलकुल यंत्रवत् तथा लक्ष्य-रहित हुआ तो यह उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। विचारों और इच्छाओं का अनुभूत तथ्यों के यंत्रवत् दमन करके जो संयम किया जाता है उसका कोई सच्चा आध्यात्मिक महत्व नहीं है। जीवन के अनुभव के सिलसिले में जिन विधायक तथ्यों का ज्ञान होता है उनकी प्रेरणा के अनुसार स्वाभाविक रूप

से मन का नियंत्रण करना वास्तविक संयम है। ऐसे संयम का ही आध्यात्मिक मूल्य है। अतएव यथार्थ संयम कोरा निषेधात्मक नहीं है। चेतना की दृष्टिपरिधि में जब कुछ विधायक तत्व प्रविष्ट होते हैं तब जीवन में उनके व्यक्त होने के अधिकार की प्रेरणा से मानसिक प्रत्युत्तर तथा चित्त-शक्ति का उद्भव होता है। इस मानसिक शक्ति तथा मन की इस अनुकूल अवस्था के द्वारा उन विधायक तथ्यों की पूर्ण तथा स्वतंत्र अभिव्यक्ति के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने वाली समस्त मानसिक प्रवृत्तियाँ हटा दी जाती हैं। इस प्रकार पवित्रता उदारता तथा दयालुता आदि गुणों का मूल्य या महत्त्व ज्ञात होने से वासना लोभ तथा क्रोध की प्रवृत्तियाँ हटने लगती हैं।

विचारों की परंपरागत आदतों तथा रूढ़ि-पूजक कार्य-पद्धति से अभ्यस्त होने के सबब मन अपने खुद के द्वारा अनुभूत नवीन तथ्यों के दावे के अनुसार आसानी के साथ अपनी व्यवस्था करने में अपने को असमर्थ पाता है। पूर्व की विचार-विधियों एवं कार्य-पद्धतियों के द्वारा अंकित अनुभव-चिन्ह जो एक प्रकार का स्थिति-स्थैर्य (inertia) पैदा कर देते हैं वही मन की इस असमर्थता का कारण है। इस स्थिति-स्थैर्य पर विजय प्राप्त करने तथा अनुभूत तथ्यों की प्रेरणा के अनुसार जीवन का पुनर्निर्माण करने का क्रम ही मन का संयम

कहलाता है। संयम मूलतः विधायक है, न कि निषेधात्मक। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि संयम रचनात्मक है, न कि विध्वंसात्मक, क्योंकि अनुभव में आये हुए यथार्थ तथ्यों की अभिव्यक्ति को स्वतंत्र अवसर देने के लिए आत्म-व्यवस्था करने का वह एक मानसिक प्रयत्न है।

चूंकि प्रकाश का उद्गम प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है अतः विधायक संयम सभी के लिए संभव बन जाता है, और यद्यपि संस्कारों के आवरण के कारण आत्मोद्दीपन अवरुद्ध हो जाता है, तथापि सामान्य से सामान्य मनुष्य की चेतना का क्षेत्र पूर्णतः अंधकार से क्षीण करना। ही आच्छन्न नहीं रहता। सदृसद्विवेक अर्थात् सच्चे तथ्यों को ग्रहण करने एवं झूठे तथ्यों को त्यागने की जो बुद्धि प्रत्येक मनुष्य में मौजूद है उसे हम प्रकाश-किरण कह सकते हैं। यही प्रकाश-रश्मि उसे आगे बढ़ाती तथा मार्ग दिखाती है। संस्कार रूपी मेघों की सघनता या विरलता के अनुसार यह ज्योति-किरण चमकीली या धुँधली हुआ करती है। संस्कार-निषेध की क्रिया वास्तविक तथ्यों की ज्ञान-प्राप्ति की भी क्रिया है। इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नतिक्रम दो लक्षणों से युक्त है:—झूठे तथ्यों को त्यागना तथा सच्चे तथ्यों को ग्रहण करना अर्थात् झूठे तथ्यों के

स्थान में सच्चे तथ्यों की नियुक्ति करना। निम्नतर तथ्यों के स्थान में उच्चतर तथ्यों की नियुक्ति की प्रक्रिया का अर्थ है पुराने संस्कारों के भीतर बंद पड़ी रहनेवाली मानसिक शक्ति को परिवर्तित करके उसे विधायक तथा आध्यात्मिक लक्ष्यों की दिशा में मोड़ देना। संस्कारों के भीतर बंद मानसिक शक्ति जब इस प्रकार मोड़ दी जाती है तब संस्कार बिखर जाते तथा क्षीण या क्लान्त हो जाते हैं।

परिवर्तन (उच्चीकरण—Sublimation) की रीति प्राचीन संस्कारों के अन्तरागों को लॉघने की सबसे अधिक स्वाभाविक तथा प्रभावशाली रीति है। इस रीति में एक विशेष लाभ यह है कि इसे करते हुए साधक की रुचि साधना की सभी अवस्थाओं में जरा भी कम नहीं होती है। निम्नतर वस्तुओं के त्याग से त्यक्त वस्तुओं के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए उच्चतर वस्तुओं की नियुक्ति यदि न की जायगी तो ऐसी विधान-शून्य या स्थानापन्न-रहित निषेध की पद्धति शुष्क अरुचिकर तथा भारपूर्ण प्रतीत होगी। मन में रिक्तता, शून्यता या अपूर्णता का भाव पैदा हो जायगा। किंतु परिवर्तन (उच्चीकरण—Sublimation) की रीति में निम्नतर तथ्यों के स्थान में उच्चतर तथ्यों की नियुक्ति की जाती है

अतः अभ्यास की प्रत्येक अवस्था में तल्लीनता-पूर्ण रुचि कायम रहती है। यह तल्लीनता-युक्त रुचि पूर्णता के भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि करती है। मानसिक शक्ति इन आध्यात्मिक धाराओं में परिवर्तित या प्रवाहित की जा सकती है। (१) ध्यान (२) निःस्वार्थ मानव-सेवा और (३) भक्ति।

आदर्श वस्तु पर गंभीर एवं अनवरत एकाग्रता का नाम ध्यान है। ऐसी एकाग्रता में आत्मा को केवल ध्यान के विषय अथवा ध्यान की वस्तु का ज्ञान रहता है और वह मन तथा देह को पूर्णतया भूल जाता है। फलतः नवीन संस्कारों की सृष्टि नहीं होने पाती तथा एकाग्रता की वस्तु पर ध्यान करने की मानसिक क्रिया के द्वारा प्राचीन संस्कार तितर वितर हो जाते हैं अर्थात् बिखर जाते हैं और क्षीण हो जाते हैं। अंत में जब संस्कारों का संपूर्ण लोप हो जाता है तब व्यष्टीभूत आत्मा एकाग्रता की गहराई में धुल जाता है और आदर्श वस्तु से संयुक्त हो जाता है।

मनुष्यों के योग्यता-भेद के अनुसार ध्यान के अनेक प्रकार हैं। कल्पना-प्रधान प्रतिभा से संपन्न मनुष्यों की मानसिक शक्ति आवश्यकता से अधिक परिश्रम करने के कारण सूख जाती है। ऐसे मनुष्यों के लिए ध्यान का सबसे उपयुक्त तरीका है विचारों से अपने आप

ध्यान:- उसका धर्म तथा प्रयोजन।

ध्यान के प्रकार

को पृथक् करना और फिर द्रष्टा की हैसियत से अपने विचारों तथा अपने शरीर को दृश्य की नाई देखना। अपने विचारों तथा शरीर को दृश्यवत् देखने में सफल होने के उपरान्त साधक रचनात्मक आत्म-सूचनाओं, जैसे “मैं अनन्त हूँ” “मैं प्रत्येक वस्तु में हूँ,” “मैं सर्वव्यापी हूँ” के द्वारा सार्वभौम सत्ता से तादात्म्य स्थापित करता है। जिनकी कल्पना स्पष्ट तथा बलवान् हैं वे किसी बिन्दु पर तीव्र एकाग्रता का प्रयत्न कर सकते हैं। किंतु वे लोग अपने मन को किसी बिन्दु पर एकाग्र न करें जिन्हें ऐसा करना पसन्द नहीं है। सामान्यतः मन की शक्ति उसके विभिन्न विचारों के कारण बिखर गयी रहती है अतः मन का एक बिन्दु पर एकत्रीभूत हो कर अपने को स्थिर करना बड़ा लाभ दायक होता है। किंतु यह एक यांत्रिक क्रिया है अतः विधायक एवं आनन्द-मय अनुभवों से शून्य है। तिस पर भी ध्यान के अन्य सफलता पूर्ण प्रकारों की तैयारी के लिए आरंभिक अवस्था में इसका उपयोग किया जा सकता है।

ध्यान के अधिक सफलता-पूर्ण तथा गंभीरतर रूपों में पहुँचने के पूर्व ईश्वर-प्रेमास्पद-का चेष्टापूर्ण एवं रचनात्मक चिंतन आवश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वर पर ध्यान करना सबसे अधिक फलदायक है। ईश्वर अपने साकार स्वरूप में या अपने निराकार स्वरूप में ध्यान का विषय बन सकता है। ईश्वर के निराकार स्वरूप पर ध्यान

ईश्वर के साकार
तथा निराकार
स्वरूपों पर ध्यान

करना केवल उन्हीं लोगों के लिए लाभ प्रद है जिनमें ऐसा ध्यान कर सकने की विशेष योग्यता है। ईश्वर के निराकार स्वरूप पर ध्यान करने का मतलब है, ईश्वर के रूप रहित निर्गुण तथा अव्यक्त अस्तित्व पर अपने समस्त विचारों को एकाग्र करना। इसके विपरीत ईश्वर के रूप तथा गुणों पर अपने समस्त विचारों को केन्द्रीभूत करने का नाम ईश्वर के साकार स्वरूप पर ध्यान करना है। तीव्र ध्यान के उपरान्त मन ध्यान की वस्तु पर ही स्थित न रह कर ध्यान के समय अनुभूत व्यापक शांति की निश्चलता पर विश्राम करना चाहता है। ऐसे क्षण कल्पना-शक्ति की कलांति के परिणाम हैं और उन्हें, बिना किसी श्रम के प्रोत्साहित करना चाहिए।

ध्यान सहज या स्वाभाविक रूप से किया जाना चाहिए। न कि बलपूर्वक। दिव्य भावना-तरंगों के ऊर्ध्व आरोहण के क्षणों में कल्पना को स्वच्छन्द छोड़ देना चाहिए तथा उसकी उच्च उड़ान को जरा भी नहीं रोकना चाहिए। अनन्त से सायुज्य प्राप्त करने के निश्चित अभिप्राय से ही कल्पना की उड़ान का नियंत्रण करना चाहिए। उसे वासना, लोभ या क्रोध के विभिन्न भाव प्रवाहों के द्वारा प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। एकाग्रता में धीरे धीरे सफलता प्राप्त होती है और नया नया साधक शुरु में संतोष-जनक परिणामों की सिद्धि न होते देख कर, संभव है, साहस खो बैठे। उसकी निराशा ही बहुधा उसके

उस दिन के ध्यान को शुरू करने तथा उसे जारी रखने में एक बड़ी रुकावट पैदा कर देती है। आलस्य तथा बीमारी जैसे अन्य विघ्न भी हैं जिन्हें दूर करना कठिन हुआ करता है। किंतु ध्यान के लिए निश्चित तथा नियमित समय नियुक्त कर देने से तथा स्थायी अभ्यास के द्वारा उन कठिनाइयों का निराकरण कर दिया जा सकता है। प्रातःकाल या सूर्योदय के पूर्व का समय जब प्रकृति शांत रहती है ध्यान के लिए खास तौर से सहायक है। किंतु किसी उपयुक्त समय में भी ध्यान किया जा सकता है।

ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए जो आधार-भूत आवश्यकताएँ हैं उनमें एकान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। मानस-जगत् में विभिन्न रंग तथा विभिन्न रूप वाले विचारों का निरंतर सम्मिश्रण होता रहता है। कुछ उदात्त एवं महान विचार मन को पूर्णता प्रदान करके उसे बलिष्ठ बनाने की प्रवृत्ति रखते हैं तथा कुछ तुच्छ विचार मन की शक्ति को क्षीण करते हैं। मानसिक जगत् के इन विभिन्न विचारों के प्रति मन अनुरक्त या विरक्त होता रहता है। अपने ध्येय आदर्श पर आरूढ रहने के लिए इन रंगे-विरंगे विचारों के प्रभाव से अपने को अछूता रखना आवश्यक है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकान्त परम उपयोगी तथा अमित संभावनाओं से पूर्ण है। एकान्त-सेवन मानसिक शक्ति का सदुपयोग या किफायतसारी है

ध्यान के लिए
एकान्त का महत्व।

तथा एकाग्रता की शक्ति को बढ़ाने का उत्तम साधन है। मन में राग (प्रवृत्ति) या द्वेष (निवृत्ति) उत्पन्न करने वाली बाह्य वस्तुओं के अभाव में तुम अन्तर्मुख होते हो और वातावरण में व्याप्त उन विचार-प्रवाहों के पात्र बनते हो जो तुम्हें शक्ति, आनन्द तथा शान्ति-मयी व्यापकता प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।

जहाँ ईश्वर के साकार तथा निराकार स्वरूपों पर ध्यान करने के लिए चेतना को बाह्य वस्तुओं से खींच कर अपने हृदय मंदिर में केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है वहाँ निःस्वार्थ सेवा। ईश्वर के सार्वभौम स्वरूप पर चित्त को एकाग्र करने के लिए मानवता की निःस्वार्थ सेवा करने की जरूरत होती है।

जब आत्मा मानव जाति की सेवा में पूर्णतः तल्लीन हो जाती है तब उसे अपने शरीर एवं मन की तथा शारिरिक एवं मानसिक क्रियाओं की बिलकुल विस्मृति हो जाती है, जैसा ध्यान करने में होता है और फलतः नये संस्कारों का सृजन नहीं होता। इसके अतिरिक्त मन को बाँधने वाले प्राचीन संस्कार छिन्न-भिन्न हो कर तितर-बितर हो जाते हैं। चूंकि आत्मा निःस्वार्थ सेवा के द्वारा स्वार्थ को त्याग कर परमार्थ पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है अर्थात् स्व-हित-चिंतन को तिलांजलि देकर पर-हित-चिंतन में तन्मय हो जाती है, अतः उसके

अहंकार का बीज अपने खाद्य पदार्थ से वंचित हो कर नष्ट होने लगता है। अतएव संस्कारों की कारा के भीतर कैद रहने वाली शक्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने तथा परिवर्तित करने के सर्वोत्तम उपायों में से एक उपाय निःस्वार्थ सेवा है।

अपने कार्य के लिए पुरस्कार का किंचित भी लोभ मन में लाये बिना जो सेवा की जाती है वही वास्तविक

निःस्वार्थ सेवा है। ऐसी सेवा में अपने

खुद के आराम या सुभीते की रत्तीभर

निःस्वार्थ सेवा का भी परवाह नहीं की जाती और न दूसरों के द्वारा अपने गलत समझ लिए जाने का अर्थ।

तिल भर भी भय किया जाता है।

जब दूसरों का कल्याण करने में तुम

मनसा-वाचा- कर्मणा मग्न हो जाते हो तो तुम्हें अपने

विषय में सोचने का अवकाश ही नहीं रह जाता। अपने

सुख स्वास्थ्य तथा अपने आराम सुभीते से तुम्हारा कोई

वास्ता नहीं रहता। इसके विरुद्ध दूसरों की भलाई के

लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तुम तत्पर

रहते हो। उनका आराम तुम्हारा सुभीता है, उनका

स्वास्थ्य तुम्हारा आल्हाद है तथा उनका सुख तुम्हारा

आनन्द है। उनके जीवन में अपने जीवन को पूर्णतः देने

में ही तुम्हें अपने जीवन की वास्तविक प्राप्ति होती है।

तुम उनके हृदयों से मिल कर एक होते हो। तुम उनके

हृदयों में निवास करते हो और तुम्हारा हृदय उनका

आश्रय-स्थल बन जाता है। जब तुम वास्तव में उनसे

अभिन्न हृदय हो जाते हो अर्थात् जब तुम्हारा हृदय उनके

हृदयों से मिलकर एक हो जाता है तो उन मनुष्यों से तुम्हारी, पूर्णतः आत्मीयता हो जाती है। अपने सहायता कार्य या सान्त्वना शब्द के द्वारा तुम उनको वह वस्तु प्रदान करते हो जिसका उनमें अभाव था तथा उनकी कृतज्ञता तथा शुभेच्छा के रूप में उनसे तुम्हें जो कुछ प्राप्त होता है वह तुम्हारी उनको दी गई वस्तु से कहीं बढ़ कर है।

इस प्रकार दूसरों के लिए जीने में तुम्हारे जीवन को विस्तार तथा व्यापकता की प्राप्ति होती है। अतः

निःस्वार्थ सेवा का जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य को कदाचित् ही यह ज्ञात रहता है कि वह सेवा कर रहा है। जिनकी वह सेवा करता है उन्हें वह यह अनुभव नहीं होने देता कि वे किसी प्रकार उसके ऋणी या आभारी हैं। इसके विपरीत उन्हें सुखी बनाने का उसे अवसर देने के उनके उपकार के लिए वह स्वयं अपने को कृतकृत्य तथा अनुग्रहित मानता है। विज्ञापन-प्रदर्शन अथवा नाम-कीर्ति के लिए वह उनकी सेवा नहीं करता। निःस्वार्थ सेवा तभी पूर्णतया सिद्ध होती है जब दूसरों की सेवा करने में मनुष्य स्वयं कृतार्थ होने का आनन्द प्राप्त करता है। निःस्वार्थ सेवा का आदर्श उसे शक्ति और सत्ता संबंधी संस्कारों से आत्म-तुच्छता तथा पर-विद्वेष की भावनाओं से एवं स्वार्थ-परता-जन्य दुष्कार्यों से मुक्त कर देता है।

प्रेम के द्वारा प्रेरित होने पर ही निःस्वार्थ सेवा तथा ध्यान दोनों सहज रूप से सधते हैं। अतः आत्मज्ञान की सर्वोपरि मंजिल में पहुंचने के लिए प्रेम को जो सर्वोत्कृष्ट पथ माना गया है सो ठीक ही है। प्रेमास्पद के प्रेम में आत्मा पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाता है। अतः वह शरीर तथा मन के कार्यों से अनासक्त हो जाता है। यह तल्लीनता या तन्मयता नवीन संस्कारों के सृजन को समाप्त कर देती है तथा जीवन को बिलकुल नई दिशा की ओर निर्दिष्ट करके प्राचीन संस्कारों को भी नष्ट कर देती है। प्रेम की अत्यन्तता में जिस स्वाभाविक तथा पूर्ण आत्म-विस्मृति का अनुभव होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अतः चेतना की संस्कार-शृंखला से मुक्त करने के साधनों में प्रेम का स्थान सर्वोच्च है।

मुक्ति के अन्य पथों में प्राप्त विभिन्न लाभ भी प्रेम में समाविष्ट हैं। अतः प्रेम का पथ अत्यंत विशेषतापूर्ण तथा प्रभावशाली पथ है। वह आत्म-बलिदान तथा आनन्द दोनों से अलंकृत है। उसकी अनुपमता इस बात में है कि प्रेमक प्रेमास्पद के हाथों में सर्वान्तःकरण से अपना आत्म-समर्पण कर देता है। उस पर केवल उसके प्रेमास्पद का एकमात्र अधिकार रहता है। दूसरी वस्तुओं के अधिकार को वह बहिष्कृत

कर देता है। अतः मानसिक शक्ति का जरा भी विभाजन नहीं होने पाता और एकाग्रता अत्यंत पूर्ण होती है। प्रेम में मनुष्यों की शरीरगत, प्राण-गत तथा मन-गत शक्तियां एकत्रीभूत होकर प्रेमास्पद की सेवा के उपयोग में आती हैं। ये शक्तियां एक संचालक शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं। सच्चे प्रेम का तनाव इतना जघर्दस्त होता है कि किसी भी प्रकार का अवांछनीय या बाधक भाव तुरंत फेंक दिया जाता है। अतः व्यवधान पैदा करने वाले भावों को निकाल बाहर करने का तथा हृदय की इस भांति पवित्र करने का जो पूर्ण प्रेम में है वह अद्वितीय है।

प्रेम में ऐसा कुछ भी नहीं जो अस्वाभाविक या कृत्रिम कहा जा सके। विकास के आरंभ से ही उसका अस्तित्व है। जड़ अवस्था में वह अपरिपक्व रहता है और संयोजन (cohesion या पदार्थों का आपस में चिपकना) तथा आकर्षण (attraction पदार्थों का एक दूसरे की ओर खींचना) के रूप में प्रकट होता है। प्रेम एक स्वाभाविक संबंध (affinity) है जो वस्तुओं को एक दूसरे के साथ संबद्ध रखता है और एक दूसरे की ओर खिंचाता है। सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे एक दूसरे पर गुरुत्वाकर्षणात्मक खिंचाव उत्पन्न करते हैं वह इसी प्रकार के प्रेम की अभिव्यक्ति है। चेतन अवस्था में प्रेम आत्मोद्दीप्त (Self-illuminated)

प्रेम अखिल सृष्टि में मौजूद है।

तथा आत्म-गुण-ग्रहणशील (Self-appreciative) बन जाता है और आमीबा (amoeba) जैसे निम्नतम जन्तु से ले कर मनुष्य जैसे सर्वाधिक विकसित जीव तक के जीवन में वह एक महत्वपूर्ण कार्य करता है। जब प्रेम आत्मोद्दीप्त हो जाता है तब उसके चेतन बलिदान के द्वारा उसका मूल्य या महत्व बढ़ जाता है।

प्रेम का बलिदान सर्वांगीण पूर्ण एवं हार्दिक होता है। उसमें लेशमात्र हिचकिचाहट के लिए जगह नहीं रहती। वह अपना सर्वस्व दे देने के लिए आतुर रहता है। बदले में उसे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। वह लेने का नाम नहीं लेता। जितना ही अधिक वह देता है उतना ही अधिक वह देना चाहता है और देने के भाव का उसे उतना ही कम अनुभव होता है। प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। वह कदापि कम नहीं होता। प्रेम की सरल अभिव्यक्ति है सरलता-पूर्वक सर्वस्व दे देना। प्रेमास्पद की गहनता (दुर्गमता) उसके सर्वोत्तम ध्यान तथा चिंता का विषय बन जाती है। बिना किसी पश्चात्ताप के वह अनवरत रूप से प्रेमास्पद को हजारों तरीकों से प्रसन्न करना चाहता है। प्रेमास्पद की केवल एक इच्छा को संतुष्ट करने के लिए किसी भी प्रकार की तकलीफ का स्वागत करने में वह आगा पीछा नहीं करता। उपेक्षा या उदासीनता-

प्रेम चेतन बलिदान के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

जन्य लेश मात्र क्लेश से उसे मुक्त करने के लिए वह बेचैन हो जाता है। प्रेमास्पद के लिए बरबाद हो जाने तथा अपने प्राण दे देने में उसे खुशी होती है। प्रेमास्पद के लिए वह यंत्रणाविकल तथा चिंताव्याकुल रहा करता है। जो शरीर उसका पोषण करता है उसकी भी देख भाल करने की वह परवाह नहीं करता। उसका सर्वस्व तो दिया जा चुका है। शरीर की हिफाजत के लिए ही वह अपना ध्यान प्रेमास्पद से कैसे हटा सकता है? किसी प्रकार का समझौता वह सहन नहीं कर सकता। उसके समस्त जीवन का प्रत्येक क्षण प्रेमास्पद की सेवा में समर्पित हो चुका है। असल विवहलता के कारण प्रेम का बांध फूट पड़ता है और प्यार तथा माधुर्य की अजस्र धाराएं प्रवाहित होने लगती हैं। अंत में प्रेमिक के सकल सीमा-बंधन छिन्न हो जाते हैं और वह प्रेमास्पद के अस्तित्व में अपने व्यक्तित्व को खो देता है।

प्रेम की तीव्रता या गंभीरता को भक्ति कहते हैं। अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में भक्ति प्रतिमा पूजा, देवी - देवताओं के सम्मुख प्रार्थना, दिव्य धर्म-ग्रंथों का आदर तथा अनुसरण, अस्पष्ट विचारणों के द्वारा ईश्वर की खोज आदि के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। अपनी उन्नततर अवस्थाओं में उसकी अभिव्यक्ति जन-कल्याण-चिंतन, मानव सेवा, संतों के प्रति अनुराग और

भक्ति की विभिन्न
अवस्थाएं

सम्मान, आध्यात्मिक गुरु का अनुसरण तथा आज्ञापालन-आदि रूपों में होती हैं। इन अवस्थाओं में भक्ति के अन्योन्य महत्व हैं तथा सापेक्ष फल हैं। जीवित गुरु के प्रति प्रेम भक्ति की अनुपम अवस्था है क्योंकि वह आगे चल कर, अंत में परा-भक्ति या दिव्य प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

केवल तीव्र भक्ति परा-भक्ति नहीं कही जा सकती। जहां भक्ति समाप्त होती है वहां परा-भक्ति का आरंभ होता है। परा-भक्ति की अवस्था में एकांगी चित्त की एकाग्रता मात्र ही नहीं होती। हृदय की अवर्णनीय व्याकुलता तथा प्रेमास्पद से मिलने की अविरत उत्कंठा परा-भक्ति के लक्षण हैं। इस अवस्था में प्रेमिक को अपने शरीर की परवाह नहीं रहती। अपने चारों ओर के वातावरण से वह अलग हो जाता है, आदर तथा आलोचना से वह घृणा करता है और उसका प्रेमास्पद के प्रति आकर्षण का दिव्य भावोन्माद पहले की अपेक्षा अधिकाधिक बढ़ता जाता है। प्रेम की यह सर्वोच्च अवस्था सबसे अधिक लाभ-दायक सिद्ध होती है क्योंकि प्रेम का पात्र एक ऐसा मनुष्य होता है कि जो प्रेम का अवतार होता है और सर्वोपरि प्रेमास्पद की हैसियत से वह प्रेमिक के प्रेम का पूर्ण रूप से प्रत्युत्तर देता है। गुरु से शिष्य को प्राप्त होने वाले प्रेम की पवित्रता, मधुरता तथा क्षमता प्रेम की सर्वोच्च अवस्था की अतुल आध्यात्मिक महिमा की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

संस्कारों को दूर करने के उपाय ।

(तृतीय भाग)

संस्कारों का प्रक्षालन ।

सद्गुरु अथवा, पूर्णगुरु के प्रति प्रेम विशेषतः महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी बदौलत सद्गुरु से संपर्क प्राप्त होता है । ऐसे संपर्क के द्वारा जिज्ञासु को सद्गुरु से जो अनुभव चिन्ह या चित्त संस्कार उपलब्ध होते हैं उनमें पूर्व-जन्माजित संस्कारों को अन्यथा करने की विशेष क्षमता होती है । ये अनुभव चिन्ह जिज्ञासु के जीवन की दिशा को एकदम बदल देते हैं । ऐसे अनुभव चिन्हों को ग्रहण करने वाला जीवन की अपनी पुरानी आदतों तथा विचार-पद्धतियों को बिलकुल छोड़ देता है । सद्गुरु के संपर्क से भ्रष्ट से भ्रष्ट जीवन की काया पलट तथा उन्नति हो जाती है । भले ही मनुष्य इहलौकिक तृष्णाओं और वासनाओं की तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का सोच-विचार किये बिना दुर्व्यसन तथा दुराचार की जिद्दी बिताकर अपनी शक्तियों का अप-व्यय करता रहा हो । चाहे अधिकार और शक्ति की पिपासा का वह क्रीत दास बन चुका हो और धनार्जन तथा धन-

सद्गुरु से प्राप्त अनुभवचिन्ह अन्य अनुभव चिन्हों का लोप करके चेतना को परिवर्तित कर देते हैं ।

संग्रह करके आमोद-प्रमोद करने के सिवा उसका अन्य कोई आदर्श न हो। किंतु सांसारिक श्रृंखलाओं से स्वतंत्रता प्राप्त करने का स्वप्न में भी ख्याल न करने वाले ऐसे मनुष्य को भी यह मालूम होते देर न लगेगी कि सद्गुरु के संसर्ग से उसे जो संस्कार प्राप्त होते हैं उनमें उसकी पुरानी आदतों तथा विचार-विधियों पर सदा के लिए यवनिका-घात करने की शक्ति होती है और वे उसके लिए उच्चतर तथा स्वतंत्रता जीवन की नवीन विधियां खोल देते हैं। सद्गुरु से प्राप्त होने वाले अनुभव-चिन्ह बुद्धि-प्रधान तथा सुशिक्षित मनुष्य के लिए भी कम लाभदायक नहीं होते हैं। ऐसे (बुद्धिप्रधान तथा सुशिक्षित) मनुष्यों की दृष्टि भी संकुचित ही हुआ करती है। अधिक हुआ तो उसकी कल्पना साहित्य तथा कला के सौंदर्य का रसास्वादन कर सकती है और उसकी परोपकारिता पड़ोस अथवा देश की सीमा तक ही परिमित रहती है। सद्गुरु से अनुभव-चिन्हों की प्राप्ति होने पर ऐसा मनुष्य अधिक उत्कृष्ट जीवन का अनुभव कर सकता है।

सद्गुरु जिज्ञासु को चेतना की सामान्य बौद्धिक सतह से ऊपर उठाकर दैवज्ञान (inspiration) तथा अंतर्ज्ञान (intuition) की सतह में पहुंचा सकता है और फिर वहां से वह सद्गुरु की मध्यस्थता से अतींद्रिय ज्ञान (insight) तथा के द्वारा समस्त आत्म ज्ञान (illumination) की संस्कारों का प्रक्षालन। सतह तक पहुंचा सकता और अंततो-गत्वा वह उसे ब्रम्हज्ञान की प्राप्ति करा

सकता है। जिज्ञासु का यह उत्थान उसके पार्थिव क्षेत्र से सूक्ष्म क्षेत्र, सूक्ष्म क्षेत्र से मानसिक क्षेत्र तथा मानसिक क्षेत्र से मुक्तावस्था में क्रमशः उन्नत होने से संबंध रखता है। समस्त संस्कारों—प्राकृतिक या अप्राकृतिक-विधायक या निषेधात्मक—का पूर्ण प्रक्षालन ही जिज्ञासु का अंतिम कदम है। लकड़ी पर लपेटे हुए धागे वाले सादृश के अनुसार संस्कारों के प्रक्षालन की प्रक्रिया धागे को कैंची से काटने के समान है। समस्त संस्कारों का उच्छेदन करना और इस प्रकार चेतना को सभी भ्रमों और बंधनों से मुक्त करना सद्गुरु की अनुकंपा के बिना कदापि संभव नहीं है।

किंतु सद्गुरु के द्वारा ऐसी सक्रिय मध्यस्थता तभी संभव है जब जिज्ञासु तथा सद्गुरु के बीच अवरोध रहित संबंध हो और ऐसा अवरोध रहित संबंध तभी स्थापित हो सकता है जब जिज्ञासु गुरु के हाथों में अपना पूर्ण आत्म-समर्पण करने में सफल होता है। आत्म समर्पण का अर्थ है गुरु की सभी आज्ञाओं का पालन करना। जब तुम्हारे सभी कार्य तथा इच्छाएं गुरु के द्वारा निर्दिष्ट होती हैं और जब वे तुम्हारे द्वारा उनकी आज्ञाओं का पालन करने का परिणाम मात्र हैं तब उनके लिए गुरु ही प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार है। इस भांति जब आत्म-

पूर्ण
आत्म-समर्पण की
आवश्यकता।

समर्पण पक्का होता है तो संस्कारों से तुम्हारे निस्तार पाने का उत्तरदायित्व गुरु पर आरोपित हो जाता है और इस नवीन स्थिति में गुरु को तुम्हारे संस्कारों को उन्मूल करते देर नहीं लगती ।

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्म-समर्पण का अर्थ है आज्ञा-पालन । आज्ञा-पालन के दो प्रकार हैं :

(१) बौद्धिक तथा (२) शाब्दिक । बौद्धिक

बौद्धिक आज्ञा
पालन ।

आज्ञा पालन की अपेक्षा शाब्दिक आज्ञा पालन अधिक फलदायक है किंतु

बौद्धिक आज्ञा-पालन पहले आता है और वह शाब्दिक आज्ञा-पालन की

प्रस्तावना है । जब गुरु की महानता एवं सिद्धि का तुम्हारी बुद्धि को विश्वास हो जाता है, तब तुम्हारे हृदय में उनके लिए प्रेम तथा आदर उत्पन्न हो जाता है किंतु उनकी आज्ञाओं का शब्दशः-अक्षरशः पालन करने में तुम अपने को असमर्थ पाते हो । चूंकि तर्क तुम्हारे विश्वास का आधार होता है अतः गुरु तथा उनकी आज्ञाओं को समझने में तर्क का आश्रय न लेना तुम्हारे लिए कठिन होता है । तुम्हारी बुद्धि तथा गुरु के प्रति तुम्हारी श्रद्धा अविभाज्य रूप से गुंथी रहती है अतः तर्क-सम्मत या बुद्धि-गम्य आज्ञाओं का ही पालन तुम कर सकते हो । गुरु शिष्य की इस मानसिक अवस्था को नहीं छेड़ता और वह उसकी रुचि तथा योग्यता के अनुकूल केवल बुद्धि-प्राह्य आज्ञाएं ही उसे देता है ।

बौद्धिक आज्ञा पालन के द्वारा तुम अपने सभी संस्कारों को विनष्ट कर सकते हो किंतु शर्त यह है कि उनके आदेशों का ठीक ठीक आशय समझने तथा उनके अनुसार आचरण करने में तुम्हें सरल हृदय होने की जरूरत है। किंतु शाब्दिक आज्ञा-पालन के द्वारा फल-प्राप्ति अधिक शीघ्र होती है। अपने मानव प्रेम की प्रेरणा से गुरु शिष्य में चट्टान की तरह अचल श्रद्धा तथा अगाध भक्ति उत्पन्न करता है। परिणामतः प्रेम के वशीभूत होकर शिष्य गुरु की आशाओं का शब्दशः या अक्षरशः पालन करता है। गुरु के तेजो मंडल की दिव्य दीप्ति तथा पवित्रता एवं करुणा की विमल कांति शिष्य में कभी विचलित न होने वाली श्रद्धा पैदा कर देती है। यही कारण है कि वह बिना तर्क वितर्क के गुरु की आज्ञाओं का पालन करने के लिए तैयार हो जाता है—चाहे वे आज्ञाएं उसकी आलोचक बुद्धि को तुष्ट करें या न करें। ऐसे शाब्दिक आज्ञा पालन को इस बात की आवश्यकता नहीं रहती कि गुरु आज्ञाओं का यथार्थ अर्थ शिष्य के लिए बुद्धि गम्य होना ही चाहिए। यह सर्वोत्कृष्ट कोटि का आज्ञा पालन है। ऐसे ही आज्ञा पालन की तुम्हें आकांक्षा करनी चाहिए। ऐसे अवितर्क तथा प्रश्न-शून्य आज्ञा पालन के द्वारा तुम्हारी वक्र इच्छाएं तथा कुटिल संस्कार ग्रंथियां सुलझाई जा सकती हैं। ऐसे संशय रहित आज्ञा पालन से ही गुरु

और शिष्य के बीच में गहरा संबंध स्थापित होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि शिष्य में आध्यात्मिक विवेक और बल की अबाध एवं अविरत धारा प्रवाहित होने लगती है ! इस अवस्था में शिष्य गुरु का आध्यात्मिक पुत्र बन जाता है। उचित समय में वह अपने समस्त सांस्कारिक बंधन से मुक्त हो जाता है तथा वह स्वयं गुरु बन जाता है।

सद्गुरु या सिद्ध गुरु का पद अनुपम होता है तथा उसकी शक्ति अद्वितीय होती है। संसार में ऐसे अनेक आत्मा हैं जो आध्यात्मिकता में न्यूनाधिक बटे चटे हैं किंतु चेतना के लहों अभ्यंतर क्षेत्रों का अतिक्रमण करके सत्, चित् तथा आनन्द के अनन्त उद्गम-स्थान से एकाकार हो चुकने वाले सद्गुरु बहुत थोड़े हैं। सद्गुरु न केवल चेतना की विभिन्न भूमिकाओं का अनुभव प्राप्त कर चुका होता है किंतु अनन्त से युक्त हो जाने के सबब वह तो समस्त आत्माओं के अस्तित्व में ही व्याप्त हो जाता है। वह सार्वलौकिक क्रियाओं के केन्द्र में स्थित-विवर्तन-कील है। एक अर्थ में तुम्हारे समग्र कार्य और विचार तुम्हारे सुख और दुःख, तुम्हारे क्रोध और क्षोभ तुम्हारी प्रबलता और दुर्बलता तुम्हारे संग्रह तथा विसर्जन एवं तुम्हारे प्रेम और लालसा-इत्यादि का वह आदि हेतु है। वह केवल सर्वव्यापक ही नहीं

सद्गुरु का
कार्य ।

है किंतु वह कार्य-कारण के पार्थिव नियम का तथा वैयक्तिक आत्माओं के संस्कारों की जटिल क्रिया पद्धति का पूर्ण-वेत्ता है। व्यक्तियों के सुख या दुःख, सत्कर्म या दुष्कर्म के कारण उसे विदित रहते हैं। पार्थिव परिवर्तन, उथल पुथल युद्ध तथा क्रांति के कारण भी उससे छिपे नहीं रहते। उसकी सर्वगत चेतना के उज्ज्वल एवं अनन्त प्रकाश के सम्मुख प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वस्तु एक खुली पुस्तक है। अनन्त से एकता प्राप्त कर चुकने के सबब वह असीम-शक्ति-सम्पन्न है और निमेष मात्र में ही वह आत्मा के संस्कारों को छिन्नमूल कर सकता है और उसे समस्त बंधनों और पाशों से मुक्त कर सकता है।

पूर्णता ।

पूर्णता के अर्थ का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे दो श्रेणियों में विभक्त करने की आवश्यकता है । एक

पूर्णता के
दो प्रकार।

आध्यात्मिक पूर्णता होती है जिसकी उपलब्धि द्वैत से परे, चेतना की परमावस्था के अभ्यन्तर अनुभव के द्वारा होती है ।

द्वैत की दुनिया में जो दिखाई देती है तथा प्राप्त की जाती है वह भौतिक पूर्णता है । प्रत्येक संबद्ध सत्ता बहुगुण रूपात्मक संसार का ही एक भाग है अतः उसमें अंशों का होना अवश्यभावी है । और जब हम इस प्रकटीभूत विश्व में किसी प्रकार की पूर्णता देखते हैं तो हमें ज्ञात हुआ है कि द्वैत के अंतर्गत अन्य प्रत्येक वस्तु की भांति उसमें भी तारतम्य भाव अथवा अंशों का न्यूनाधिक्य विद्यमान है । बुरा और भला दुर्बलता और सबलता, दुर्गुण और सद्गुण सभी द्वैत के द्वन्द्व हैं । किंतु वस्तुतः ये सभी अवस्थाएं भिन्न भिन्न अंशों में एक ही सत्य की अभिव्यक्तियां हैं ।

अशुभ केवल अशुभ नहीं है किंतु शुभ का निम्नतम अंश है, दौर्बल्य केवल असामर्थ्य नहीं है किंतु बल का निम्नतर अंश है, तथा दुर्गुण निरा दुर्गुण द्वैत के प्रदेश में हम नहीं है किंतु सद्गुण का निम्नतम अंश है । दूसरे शब्दों में पाप पुण्य की अत्यल्पावस्था है, और दुराचार सदाचार

द्वैत के प्रदेश में हम केवल सापेक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

की अत्यल्पावस्था है। द्वैत की सभी स्थितियों में अत्यल्पता तथा अत्यधिकता अवश्य रहेगी तथा इनके अंतर्गत अंश भी अवश्य रहेंगे। और पूर्णता भी इस नियम का अपवाद नहीं है। मानवता का समस्त क्षेत्र पूर्णता तथा अपूर्णता के दो छोरों के अंतर्गत है और पूर्णता तथा अपूर्णता दोनों सामंजस्य, वैषम्य तथा अन्योन्य संबंध या आधाराधेयक भाव के विषय हैं। अतः पूर्णता द्वैत के प्रदेश में केवल सापेक्ष पूर्णता है। पूर्णता की अपूर्णता से तुलना करने पर ही हमें पूर्णता का बोध होता है।

द्वैत-विषयक पूर्णता का अर्थ है किसी गुण या योग्यता की उत्तमता। इस प्रकार की एक विषय की पूर्णता में दूसरे विषय की पूर्णता समाविष्ट नहीं रहती। उदाहरणार्थ विज्ञान में निष्णात मनुष्य आवश्यक रूप से संगीत में निपुण नहीं होता तथा संगीत में चतुर मनुष्य विज्ञान में कुशल नहीं होता। एक प्रकार से अपराध में उत्तमता प्रदर्शित की जा सकती है।

आध्यात्मिक पूर्णता उत्तमता से बिलकुल भिन्न है।

जब हत्या इतनी कुशलता के साथ की जाती है कि हत्यारा अपने को खोज निकालने के लिए एक भी चिन्ह नहीं छोड़ जाता तो ऐसी हत्या उत्तम हत्या या पूर्ण हत्या कही जाती है। अतः अपराधों तथा पापों में भी एक प्रकार की पूर्णता या उत्तमता पायी जाती है। किंतु इस प्रकार की पूर्णता या

उत्तमता जो किसी गुण या योग्यता का उत्कर्ष मात्र है, तथा आध्यात्मिक पूर्णता के मौलिक भेद को सावधानी-पूर्वक समझ लेना चाहिए। आध्यात्मिक पूर्णता द्वैत के अंतर्गत नहीं है। वह द्वैतातीत है। द्वैत के लक्षणों से युक्त भिन्न भिन्न प्रकार की उत्तमता बुद्धि के विषय के अंतर्गत है, क्योंकि ऐसी उत्तमता प्रतिदिन के सीमित अनुभव में आनेवाली किसी अच्छाई का कल्पना में विस्तार करने से सरलता पूर्वक प्राप्त की जा सकती है। किंतु ब्रह्मदर्शी पुरुषों को जो पूर्णता प्राप्त होती है वह द्वैत की सीमा के अंतर्गत नहीं होती। अतः वह बुद्धि के विषय से बिल्कुल परे होती है। ऐसी पूर्णता की द्वैत की दुनिया में कोई उपमा नहीं है। जब कोई व्यक्ति आध्यात्मिकता में पूर्ण हो जाता है तो उसे ज्ञात होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है तथा बुद्धि-प्राह्य, दृश्यमान, द्वैतात्मक अस्तित्व केवल भ्रम या प्रपंच है। ब्रह्मज्ञ या ईश्वर-वेत्ता मनुष्य के लिए ब्रह्म या ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। विज्ञान, कला, संगीत, बल दौर्बल्य, सदगुण-ये सब के सब उसके लिए स्वप्न के सिवा और कुछ नहीं हैं। उसके एक अविभाज्य सत्य के ज्ञान का ही नाम उसकी पूर्णता है।

आध्यात्मिकता में पूर्ण मनुष्य सदा अन्य आत्माओं के आध्यात्मिक उत्थान के लिए ही अपने ज्ञान एवं शक्तियों

का उपयोग करता है। दूसरों के संबंध में कोई उसकी जानकारी उनके बाह्य रूपों या उनके कथनों पर अवलंबित नहीं रहती। लोगों के विचार उसे पहले मालूम हो जाते हैं, बाद में उनके शब्द उसके लिए अनावश्यक हैं। यदि वह कोई बात उसके व्यक्त होने से पहले जानना चाहे तो वह जान सकता है, किंतु वह ऐसा तभी करता है जब आध्यात्मिक कारणों से ऐसा करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यदि वह किसी अन्य विषय में उत्तमता या श्रेष्ठता प्राप्त करना चाहे, तो वह बिना किसी कठिनाई के ऐसा कर सकता है। सभी प्रकार की उत्तमता आध्यात्मिक पूर्णता में गुप्त रूप से विद्यमान रहती है। कृष्ण आध्यात्मिकता में पूर्ण थे। वे सभी विषयों में पूर्ण थे। यदि वे चाहते तो पूर्ण शराबी, पूर्ण पापी, पूर्ण धूर्त या पूर्ण हत्यारे के रूप में भी वे अपने आप को दिखा सकते थे। किंतु इन रूपों में उन्हें देख कर संसार चौंक जाता। सभी विषयों में पूर्णता से संपन्न होने पर भी उनके मिशन (धर्म-प्रसार) की पूर्ति के लिए सभी विषयों में अपनी पूर्णता प्रदर्शित करना आवश्यक न था। दूसरे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए आध्यात्मिकता में पूर्णता प्राप्त कर चुकने वाले पुरुषों को जो भी जीवन-पद्धति अपनानी पडती है उसमें वे परम उत्तमता प्रदर्शित कर सकते हैं। किंतु उस विषय में केवल अपनी पूर्णता का

प्रदर्शन करने के ही उद्देश्यसे ही वे ऐसा नहीं करते। अपनी योग्यताओं की विशिष्टता का उपयोग वे दूसरों के कुतुहल को संतुष्ट करने के लिए नहीं करते किंतु आध्यात्मिक आवश्यकता से प्रेरित हो कर ही करते हैं। जब वे अपनी योग्यता की विशिष्टता का उपयोग करते हैं तब बिलकुल आसक्ति-रहित हो कर करते हैं। जिस प्रकार वह मनुष्य, जो हाथ के मोजे पहने हुआ है, संसार के मल को छू सकता है और तिस पर भी उसके हाथ कलुषित नहीं होते, उसी प्रकार आध्यात्मिकता में पूर्णता प्राप्त कर चुकने वाला मनुष्य सार्वलौकिक क्रियाओं में लग सकता है किंतु तो भी उनसे बद्ध नहीं होता।

व्यक्तित्व के सभी अवयवों का निःशेष विकास ही यथार्थ पूर्णता है। अतः पूर्णता का सर्व विषयक या सर्वांगीण होना आवश्यक है। एक विषयक पूर्णता कोई पूर्णता नहीं है, वह पूर्णता सर्व-विषयक केवल एक शक्ति या एक क्षमता की या सर्वांगीण होनी एकांगी वृद्धि है। ऐसी अधूरी पूर्णता चाहिए। सतत-चंचल अवस्थांतरों तथा जीवन के प्रचुर परिवर्तनों के बीच में अपने को व्यथित करने में असमर्थ रहती है। एक विषय में पूर्ण मनुष्य जीवन में क्षिप्र परिवर्तनों के साथ चलते हुए मन का समतोल कायम नहीं रख सकता। उसकी क्षमता की अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्रदान करने वाला अनुकूल वातावरण यदि उसे मिला तब तो वह स्वल्प

काल के लिए प्रसन्न रहेगा और संसार के साथ समस्वरता का आनन्द उसे प्राप्त होगा किंतु ऐसे प्रतिकूल वातावरण में आते ही जहां उसकी क्षमता अनुपयुक्त है, वह एक प्रकार की असफलता के भाव का अनुभव करेगा और उसका स्वरैक्य या समत्व भंग हो जायगा। अतएव सर्व-विषयक पूर्णता ही पूर्णता है।

इसका अर्थ यह है कि यद्यपि पूर्णता द्वन्द्व के परे है तो भी द्वन्द्व पूर्णता के भीतर समाविष्ट है। यदि तुम किसी

द्वन्द्व-बोधक परिकल्पित या नियत मान पूर्णता द्वंद्वतीत है के द्वारा पूर्णता के यथार्थ अर्थ को ग्रहण तौभी द्वन्द्व पूर्णता करना चाहोगे तो तुम उसे सीमित करने में ही सफल होवोगे और उसके महत्व को समझने में तुम असमर्थ

रहोगे। अपने भीतर द्वन्द्वों का समावेश करके भी पूर्णता उनके परे है। अतएव पूर्ण पुरुष किसी नियम या सीमित आदर्श से बद्ध नहीं है। वह अच्छे और बुरे को पार कर चुका है। किंतु उसका नियम अच्छे लोगों को अच्छा फल तथा बुरे लोगों को बुरा फल देने वाला है। कृष्ण ने अपने भक्त अर्जुन को यह सिद्ध कर दिखाया कि उसके द्वारा दुराचारी कौरवों का दृश्यतः शारीरिक और मानसिक संहार उनके आध्यात्मिक मोक्ष के लिए था। परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार पूर्णता अपने को संहारक या उद्धारक के रूप में अभिव्यक्त कर सकती है। पूर्ण मनुष्य का हृदय मन्खन की भांति मृदु तथा लोहे की तरह कठोर होता है। पूर्णता

की अभिव्यक्ति द्वन्द्व के एक अंग में सीमित नहीं रहती अर्थात् द्वन्द्व के एक दूसरे अंग द्वारा उसका प्रकट होना उसके लिए निषिद्ध नहीं है। वस्तुस्थिति के नियम के अनुसार वह द्वन्द्व के दो विरोधों में से किसी भी एक विरोध, अथवा दोनों विरोधों के रूप में अभिव्यक्त हो सकती है। यही वजह है कि वह द्वन्द्व के परे है और वह जीवन की तमाम संभव परिस्थितियों को यथाविधि प्रत्युत्तर दे सकती है। सत्य के केन्द्र बिन्दु को त्यागे बिना वह समत्व में आरूढ रह सकती है। जिसे सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त नहीं है वह जिन परिस्थितियों में किंकर्तव्य विमूढ हो जाता है उन्हीं विभिन्न परिस्थितियों के बीच में पूर्ण पुरुष अचल शांति तथा परम सम-स्वरता का अनुभव करता है।

मानवीय क्रियाएं द्वन्द्व बद्ध हैं और पूर्णता उनके परे है। तथापि यह न समझ लेना चाहिए कि पूर्णता में मानुषी भाव रहता ही नहीं। मनुष्य-गण दुःखी हैं और अपने को तथा दूसरे को सुखी बनाने पर हँसते हैं; किंतु एक पूर्ण मनुष्य भी जिसका अंतर सुख से ओतप्रोत है, हास्य या शील के भाव से रहित नहीं है। पूर्णता अमानुषी बनने में नहीं है किंतु अति-मानुषी बनने में है। मनुष्यता में प्रच्छन्न प्रज्ञा या विवेक का पूर्ण प्रकर्ष ही पूर्णता है।

ईश्वर का ईश्वर बना रहना ही पूर्णता है किंतु मनुष्य के ईश्वर बनने में पूर्णता है या ईश्वर के मनुष्य बनने में पूर्णता है। वह सान्त सत्ता जिसे अपने सान्त होने का बोध है प्रत्यक्षतः अपूर्ण है। किंतु जब उसे अनन्त से युक्त होने का बोध होता है तो वह पूर्ण हो जाती है। मनुष्य के अपने सान्त होने का भ्रम त्यागने एवं अपनी दिव्यता की उसे अनुभूति होने से उसे

जब ऐश्वर्य उपलब्ध होता है, तो उसे ऐसा ही बोध होता है। यदि अनन्त से हमें उस वस्तु का बोध हो जो सान्त के विरुद्ध है, या सान्त का प्रतिद्वन्द्वी है या सान्त से दूर है और वह वस्तु सान्त के अवश्यतः अतिरिक्त कोई वस्तु है तो ऐसा अनन्त तो सीमित हो जाता है क्योंकि सान्त के भीतर तथा सान्त के द्वारा वह अपने को प्रकाशित करने में असमर्थ हो जाता है। दूसरे शब्दों में ऐसा अनन्त पूर्ण नहीं हो सकता। अतः अनन्त को सान्त के ही भीतर तथा सान्त के ही द्वारा अपनी असीमता का उद्घाटन करना चाहिए और इस क्रिया विधि से उसे सीमित भी नहीं होना चाहिए। ईश्वर की पूर्णता प्रकटीभूत तभी होती है जब वह अपने को मनुष्य के रूप में व्यक्त करता है। ईश्वर का मनुष्य के परिच्छिन्न रूप में ज्ञान पूर्वक अवतरण या अवरोहण उसका अवतार कहा जाता है, अतएव यह मनुष्य रूप में ईश्वर की पूर्णता है। इस प्रकार जब सान्त अपनी सीमाओं

का उल्लंघन करके अपनी अनन्तता का अनुभव करता है तब उसे पूर्णता की प्राप्ति होती है या जब अनन्तता अपनी कल्पित पृथक् स्थिति का परित्याग करके मनुष्य बनता है तब उसे पूर्णता की उपलब्धि होती है । दोनों अवस्थाओं में सान्त और अनन्त एक दूसरे का बहिष्कार नहीं करते । सान्त और अनन्त का सुखद एवं सञ्ज्ञान संयोग ही पूर्णता है । ऐसा संयोग होने से अनन्त सान्त के द्वारा बिना सीमित हुए अपने आप को प्रकट करता है और सान्त अपने रूप में अनन्त की अभिव्यक्ति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके अपनी ससीमता का अतिक्रमण करता है ।

आध्यात्मिक जीवन

सच्चे कर्मयोग में अर्थात् पूर्ण कर्म से युक्त जीवन में, जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं के बीच यथोचित व्यवस्था स्थापित हो जाती है। ऐसे जीवन में चेतना ऐहिक तथा भौतिक वस्तुओं के द्वारा बद्ध नहीं होती, किंतु साथ ही साथ वह दैनिक कर्मों से दूर भी नहीं रखी जाती। न तो मन को भौतिक भोग-विलास में डूब कर चाहें के दंशन का ही शिकार होने दिया जाता और न उसे आध्यात्मिक आनन्द में ही मग्न होने दिया जाता। किंतु मन के द्वारा आध्यात्मिक विवेक के दृष्टि कोण से जीवन की समस्याओं का सामना किया जाता है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के बीच सुव्यवस्था की स्थापना दोनों को समान महत्व देने से नहीं हो सकती। भौतिक जीवन से कुछ वस्तु ले कर तथा आध्यात्मिक जीवन से कुछ वस्तु ले कर दोनों को समभार कर देने से ऐसी सुव्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। भौतिक वस्तु का उपयोग आत्मा की अभिव्यक्ति के अनुकूल साधन के रूप में होना चाहिए। भौतिक वस्तु की अपेक्षा आत्मा को श्रेष्ठ मानना और आत्मा को अनिवार्यतः प्रधान महत्व देना ही होगा।

इसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक वस्तु को त्याग देना चाहिए। इसका सिर्फ इतना ही अर्थ है कि भौतिक वस्तु को साध्य न मान कर साधन मात्र मानना चाहिए। और उसका उपयोग आत्मव्यंजन के सहायक उपकरण के रूप में करना चाहिए। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के बीच विवेक सम्मत व्यवस्था तभी स्थापित हो सकती है जब भौतिक जगत् आत्मा के आत्म-प्रकाशन के कार्य के लिए एक उपयोगी यंत्र या सहायक उपादान के रूप में व्यवहृत होता है। भौतिकता के आध्यात्मिकता की उपेक्षा करके निरंकुश होने में उसीका अनिष्ट है। जिस प्रकार गायक का वाद्य तभी तक उपयोगी है जब तक वह गायक के गीत को प्रकट करता है, किंतु यदि वह गायक के गीत को प्रकट करने में सहायक नहीं होता है तो गायक के लिए वह एक विघ्न है, उसी प्रकार भौतिक जगत् जब विधायक जीवन प्रवाह को प्रकट करने में सहायक होता है तो वह उपयोगी है और जब वह इस जीवन प्रवाह को अवरुद्ध करता है तो वह एक बाधा है।

मन की नाना तृष्णाओं के कारण भौतिक जगत् को सर्व प्रधान मानने की हमारी प्रवृत्ति होती है। अतः एक शराबी के लिए शराव ही सब कुछ है। लोभी मनुष्य के लिए धन संग्रह से बढ़ कर कुछ भी नहीं है और विषयी मनुष्य के लिए इंद्रिय सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इन उदाहरणों से भौतिक वस्तुओं की अनधिकार चेष्टा का पता लगेगा। ऐसी ही पद्धतियों से भौतिक

पदार्थ आत्मा पर प्रभुत्व जमा कर उसके स्वाभाविक जीवन में हस्तक्षेप करते हैं। आत्मा के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए भौतिक जगत का त्याग अभीष्ट नहीं है केवल इतना ही आवश्यक है कि भौतिक जीवन आत्मा के अधिकारों को अंगिकार करे और उन्हें प्रकट करे। यह तभी संभव है जब आत्मा समस्त इच्छा तृष्णा से विमुक्त हो कर अपनी वास्तविक माहिमा का पूर्णज्ञान प्राप्त करे। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर मनुष्य भौतिक पदार्थों को ग्रहण करके भी उनका दास नहीं होता। आवश्यकता होने पर वह पदार्थों का उपयोग आत्मजीवनों के लिए साधनों के तौर पर करता है किंतु न तो वह उनसे लुब्ध होता और न उनके लिए अशांत ही होता क्योंकि वह जानता है कि उन पदार्थों का स्वयं अपना कुछ भी मूल्य नहीं है। वह भौतिक तथा सामाजिक वातावरण में वास करता है किंतु वह उनके लिए अधीर और बेचैन नहीं होता। अनासक्त एवं वीतराग होने के कारण भौतिक संसार उसके आध्यात्मिक जीवन का कार्य क्षेत्र बन जाता है।

जब आत्मा तथा वस्तु जगत के बीच सच्ची व्यवस्था की स्थापना हो जाती है तब जीवन के सभी भागों का उपयोग दिव्यत्व की अभिव्यक्ति के लिए होता है। प्रति दिन के जीवन तथा जगत पर शासन उसकी उलझनों से मुँह मोड़ने और करता है तब उसकी उनसे भागने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सांसारिक जीवन से संबंध विधायक स्वतंत्रता प्रकट होती है। विच्छेद करके तथा पर्वतों और गुफाओं में बास करके जो स्वतंत्रता प्राप्त की

जाती है वह निषेधक स्वतंत्रता है। जब संसारत्याग अस्थायी रूप से अनासक्ति-शक्ति की वृद्धि करने के उद्देश्य से किया जाता है तब वह अनुचित नहीं है किंतु लाभदायक है। ऐसा संसार-त्याग थोड़े समय के लिए विश्राम करने के समान है; या ज्विन की दौड़ में थोड़ी देर आराम पूर्वक साँस लेने के सदृश है। किंतु संसार से भयभीत होने के कारण या आत्म-विश्वास की कमी के सबब जो संसार-त्याग किया जाता है उससे सच्ची स्वतंत्रता का विधायक होना नितान्त आवश्यक है। जब आत्मा वस्तु जगत् पर अपना अबाध आधिपत्य स्थापित करता है तभी सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। यह आध्यात्मिक जीवन आत्मा का वास्तविक जीवन है।

आध्यात्मिक जीवन अनन्तता की अभिव्यक्ति है, अंतः वह निरर्थक मर्यादाएं स्वीकार नहीं करता। अन्य सभी वस्तुओं से विमुख होकर किसी एक प्रिय वस्तु के प्रति अनावश्यक उत्साह या रुचि को आध्यात्मिकता मान लेना भूल है। वह कोई व्यावर्तक “वाद” नहीं है और न “वाद” से उसे कोई दिलचस्पी है। जब सांसारिक जीवन से अलग होकर मनुष्य आध्यात्मिकता की खोज करते हैं, मानों आध्यात्मिकता का सांसारिक जीवन से कोई संबंध नहीं है तो उनकी खोज व्यर्थ है। सभी मतों

आध्यात्मिकता का प्रसार समस्त जीवन पर है।

और संप्रदायों की यह प्रवृत्ति है कि वे जीवन के एक भाग या एक अंग पर ही जोर देते हैं अतः उनका दृष्टिकोण संकीर्ण है। सच्ची आध्यात्मिकता का दृष्टिकोण समाष्टिमूलक (totalitarian) होता है। जीवन के किसी पहलू से विशिष्ट या संकुचित दिलचस्पी आध्यात्मिकता नहीं कही जा सकती। जीवन में विद्यमान विभिन्न परिस्थितियों के प्रति विवेकपूर्ण या ज्ञान-सम्मत बर्ताव ही यथार्थ आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता का प्रसार समस्त जीवन पर है या जीवन आध्यात्मिकता के अंतर्गत है। संसार के समस्त भौतिक पदार्थ दिव्य लीला के साधन बनाये जा सकते हैं। और जब वे गौण बना लिए जाते हैं तो वे आत्मा के आत्म-प्रकाशन में सहायक हो जाते हैं।

आत्मा के जीवन से भौतिक पदार्थों का जैसा संबंध होता है उसीके अनुसार उनका मूल्य आँका जा सकता है। उनका अपना खुद का कोई मूल्य नहीं है। वे स्वयं न तो भले हैं और न बुरे। जब वे आत्माभिव्यक्ति में सहायक होते हैं तो वे भले हैं और जब वे बाधक होते हैं तब वे बुरे हैं। उदाहरण के लिए यह देखा जाय कि आत्मा के जीवन से शरीर का क्या संबंध है। 'देह' को 'देही' (आत्मा) का प्रतिपक्षी या विरोधी मानना

शरीर आध्यात्मिक
जीवन के लिए
विघ्न नहीं है।

भूल है। दोनों के बीच में ऐसा वैमनस्य स्थापित करने से अनिवार्य रूप से शरीर पूर्णतः निन्द्य ठहराया जाता है। शरीर आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक तभी होता है जब आत्मा की उपेक्षा करके एकमात्र उसीका परिपोषण किया जाता है। शरीर को आध्यात्मिक उन्नति के साधन के रूप में उपयोग में लानेसे ही उसका यथार्थ कार्य ठीक ठीक समझाया जा सकता है। योद्धा को युद्ध लड़ने के लिए घोड़े की आवश्यकता होती है किंतु यदि घोड़ा उसका हुक्म मानने से साफ इंकार कर दे तो वह उसके लिए एक रोड़ा है। इसी प्रकार वस्तु जगत् का आत्मा के वाहन के रूप में उपयोग करने से आत्मा अपनी सारी सम्भाव्यताओं पर विजय प्राप्त कर सकता है किंतु जब वह आत्मा की अधीनता में रहना अस्वीकार करता है तो वह आत्मा के लिए विघ्न बन जाता है। जब शरीर आत्मा के वश में रहना स्वीकार करता है तो वह पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना करने का साधन बन जाता है और उसके द्वारा दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है। जब शरीर आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है तब उसे पृथ्वी पर स्थित ईश्वर मंदिर कहना अनुचित न होगा।

जब आत्मा के जीवन की अभिव्यक्ति के लिए भौतिक शरीर तथा अन्य भौतिक वस्तुओं का उपयोग हो

सकता है तब सच्ची आध्यात्मिकता उनके प्रति विरोधी

विज्ञान, कला, और राजनीति के द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।
 रख कैसे धारण कर सकती है? सच तो यह है कि वह भौतिक वस्तुओं में ही तथा भौतिक वस्तुओं के द्वारा ही अपने को प्रकट करती है। आध्यात्मिकता में पूर्ण मनुष्य सुन्दर पदार्थों कला-पूर्ण वस्तुओं, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा राजनैतिक प्राप्ति

को हेय दृष्टि से नहीं देखता। सुंदर पदार्थ भोग विलास की वस्तुएं बना लिए जा सकते हैं और उनपर द्वेषपूर्ण तथा व्यावर्तक आधिपत्य स्थापित किया जा सकता है, कला की कृतियों का उपयोग अहंवृत्ति तथा मानवीय दुर्बलताओं की वृद्धि करने के काम में लाया जा सकता है, जैसे आधुनिक युद्धों में; और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि से शून्य राजनैतिक उत्साह सामाजिक तथा अंतर्राष्ट्रीय अस्त-व्यस्तता को स्थायी बनाने में सहायक हो सकता है। किंतु विज्ञान, साहित्य, कला तथा राजनीति—इन सब का विवेकमूलक उपयोग किया जा सकता है और इन्हें आध्यात्म-मय बनाया जा सकता है। सौन्दर्य-पूर्ण पदार्थ, पवित्रता, आनंद तथा प्रकृति-प्रेरित ज्ञान (inspiration) का उद्गम-स्थान बनाये जा सकते हैं। कला की कृतियां लोगों की चेतना को उदात्त तथा उन्नत कर सकती हैं, विज्ञान के आविष्कार मानवता को अनावश्यक कष्ट तथा असुविधा से मुक्त कर सकते हैं और राजनैतिक कार्य सच्चे विश्वबंधुत्व की स्थापना का साधन बनाया

जा सकता है। अतएव सांसारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से पीठ फेरना सच्चा आध्यात्मिक जीवन नहीं है। सच्ची आध्यात्मिकता, दिव्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए अर्थात् प्रेम, शांति, आनंद, सौंदर्य तथा आध्यात्मिक पूर्णता को प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच के भीतर लाने के लिए—जीवन के समस्त विभिन्न क्षेत्रों को उपयोग में लावेगी।

तथापि, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाले को सांसारिक वस्तुओं के प्रति—उदासीन या उपेक्षाशील हुए बिना—अनासक्त अवश्य रहना चाहिए। अनासक्ति को गुण-ग्रहणशीलता का अभाव समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। वस्तुओं की ससारता और असारता का यथोचित निर्णय अनासक्ति का लक्षण है। यदि सच पूँछा जाय तो वस्तुओं का नये सिरे से मूल्य निरूपण करना ही अनासक्ति की शर्त है। तृष्णा भ्रम उत्पन्न करती है और वस्तुओं का ठीक मूल्य आंकने नहीं देती। तृष्णा आसक्ति की वृद्धि करती है और बाह्य वस्तुओं पर निर्भरता की भावना को प्रोत्साहित करती है। किंतु अनासक्ति विवेक को जन्म देती है तथा वस्तुओं की सारासारता के यथार्थ बोध में सहायता पहुंचाती है। अनासक्ति के द्वारा चेतना बाह्य वस्तुओं पर अवलंबित नहीं रहती। वस्तुओं की यथार्थ स्थिति का बोध प्राप्त करने का

अनासक्ति का अर्थ उदासीनता नहीं है।

अर्थ है कि उन्हें एक जीवन को अभिव्यक्त करने वाले विभिन्न भाग समझना और उनकी दृश्यमान अनेकता के आवरण को भेद कर उनकी मौलिक एकता का ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है वस्तुओं की कल्पित पृथकता तथा एकांगीपन के ऐंद्रजालिक के प्रेम के प्रभाव से अपने को मुक्त करना। अतः आसक्तिरहित सर्व-व्यापकता तथा बंधन रहित गुण-ग्रहण-शीलता में ही आध्यात्मिक जीवन की सार्थकता है। आध्यात्मिक जीवन विधायक स्वतंत्रता का जीवन है। आत्मा का वस्तु जगत् में प्रविष्ट या निविष्ट होना तथा अपने अधिकारों को कायम रखते हुए उसके द्वारा उद्गीत तथा प्रकट होना ही आध्यात्मिक स्वतंत्रता है।

जब तक पार्थिव सत्ता की वस्तुएं एवं घटनाएं सर्वव्यापक आध्यात्मिकता के वेग-पूर्ण ज्वाल के विशाल प्रास में समा नहीं जातीं तभी तक वे विदेशिय के रूप में देखी जाती हैं। आध्यात्मिकता में पूर्णता प्राप्त होते ही ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु सृष्टि के ताल-स्वर मय संगीत में मधुरता के साथ भाग ले रही है। फिर आध्यात्मिक जीवन अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई विशेष या पृथक् क्षेत्र नहीं चुनता। मनुष्यों के सामान्य शारिरीक, बौद्धिक तथा भावना-विषयक आवश्यकताओं से संबद्ध हो कर भी वह विकृत नहीं होता। आत्मा का जीवन एकता-मय एवं

सत्त्वा आध्यात्मिकता सर्व-व्यापक है।

संपूर्ण जीवन है। असंबद्ध, व्यावर्तक, निषेधक तथा विशिष्ट क्षेत्र में सीमित रहना उसे स्वीकार नहीं है।

आध्यात्मिक जीवन दिव्य प्रेम एवं दिव्य ज्ञान की अवरोध-रहित अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिकता के ये दोनों

दिव्य प्रेम वस्तु-
जगत् पर प्रचंड
रचनात्मक प्रभाव
उत्पन्न करता है।

भाग अपनी अबाध सार्वलौकिकता में अनुपम तथा अपनी स्वतंत्रता में अद्वितीय हैं। दिव्य प्रेम को अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी विशेष प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती। वह अपने को प्रकट करने के लिए किसी खास क्षण की बाट नहीं जोहता और न वह ऐसी गंभीर परिस्थि-

तियों की ही तलाश में रहता जो विशेष रूप से पवित्र हैं। ऐसी घटनाएं और परिस्थितियाँ जिन्हें महत्व हीन समझ कर एक विवेकशून्य मनुष्य उन पर कुल भी ध्यान नहीं देगा, उसकी अभिव्यक्ति के साधन बन जायँगी। साधारण मनुष्य प्रेम उपयुक्त अवस्थाओं में ही प्रकट किया जाता है। वह किसी खास तरह की परिस्थिति का प्रत्युत्तर हुआ करता है। अतः उस प्रेम का उस परिस्थिति से सापेक्ष संबंध रहता है। किंतु अंतर से प्रस्फुटित होने वाले दिव्य प्रेम का बाह्य परिस्थिति के स्पंदन और संवेदन से कोई संबंध नहीं रहता। वह स्वतंत्र होता है। अतः वह ऐसी परिस्थितियों में भी निःसृत हो सकता है, जिन्हें मानव प्रेम का ही ज्ञान रखने वाले मनुष्य उपयुक्त न समझें। यदि अपने निकटवर्ती व्यक्तियों में गुरु को आनन्द, शील, और सौन्दर्य का अभाव दिखाई देता है तो यही

प्रसंग उसके लिए अपने दिव्य प्रेम की उनपर वर्षा करने के लिए उपयुक्त अवसर बन जायगा और वह उन्हें उनकी भौतिक या आध्यात्मिक दरिद्रता से मुक्त कर देगा। अतः सांसारिक वातावरण के प्रति उसका प्रतिदिन का प्रत्युत्तर उसकी रचनात्मक दिव्यता का विद्युद्गति से प्रसार करता है, और जिस वस्तु में वह अपना मन लगाता है उसे वह अध्यात्म-मय बना देता है।

आध्यात्मिक ज्ञान आत्मा के जीवन का परिपूरक भाग है। आध्यात्मिक ज्ञान तथा सांसारिक बुद्धिमत्ता में

बड़ा भारी अंतर है। सांसारिक बुद्धि-
मत्ता संसार की रूठियों का सार है।

आध्यात्मिक ज्ञान
की प्राप्ति अंधानु-
करण से नहीं होती।

संसार की आचार-विधियों को आँख-
मूंद कर स्वीकार करने में आध्यात्मिकता
की शोभा नहीं है। प्रायः सदैव

सांसारिक आचारविधियां संसारा-

सक्त मनुष्यों के कार्यों का सामूहिक प्रभाव हुआ करती हैं। संसारी मनुष्य किसी बात को ठीक समझते हैं और उसे अपनी जैसी प्रवृत्तिवाले मनुष्यों के लिए ठीक घोषित कर देते हैं।

अतः रूठियों के अंधानुकरण से विवेकसम्मत कार्य नहीं हो सकता। गुण-दोष विवेचन शून्य अनुकरण को आध्यात्मिक जीवन नहीं कहते। वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों का सच्चा ज्ञान ही आध्यात्मिक जीवन है।

निःस्वार्थ सेवा ।

कर्मयोगी स्वार्थ-मुक्त इच्छा-जनित कार्यों की अस्तव्यस्तता तथा नितान्त चाह-शून्यता-जनित दृश्यमान निष्क्रियता दोनों का निवारण करता है । किंतु वह ऐसी निःस्वार्थ सेवा का जीवन व्यतीत करता है, जिसमें स्वार्थ-बुद्धि की जरा भी गन्ध नहीं होती । ऐसी सेवा जीवन की सभी स्थितियों में दिव्यता की अभिव्यक्ति को सुसाध्य बना देती है ।

सेवा का कार्य स्वार्थ-रहित होना ही पर्याप्त नहीं है । निःस्वार्थ होने के साथ ही साथ उसका आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा निर्दिष्ट होना परम आवश्यक है । अज्ञानमूलक सेवा से अस्तव्यस्तता तथा जटिलता की उत्पत्ति होती है । अनेक सज्जन सामाजिक संस्थाओं के द्वारा जन सेवा करने में आविरत रूप से लगे हुए हैं । किंतु उनके सेवाकार्य का परिणाम क्या होता है ? एक समस्या को हल करनेके साथ ही साथ वह दस नई समस्याएं पैदा कर देता है । अदूरदर्शी सेवा कार्य एक गुत्थी को सुलझाने में अनेक ऐसी उलझनें खड़ी कर देता है जिस पर उसका कोई वश

नहीं चलता। संसारी मनुष्य प्रतिकार के द्वारा बुराइयों का विरोध करते हैं किंतु ऐसा करने में न जानते हुए वे कुछ दूसरी बुराइयों के जन्मदाता बन जाते हैं।

कल्पना करो कि चींटियों का एक दल किसी मनुष्य के शरीर पर चढ़ गया है और उनमें से कोई एक चींटी उसे काट देती है। स्वभावानुसार वह मनुष्य उस चींटी को दंड देने के अभिप्राय से उसे जान से मारना चाहता है। जब वह अपने हाथ से उसे मारता है तो इस कार्य के परिणाम स्वरूप वह कई ऐसी चींटियों को मार डालता है जो उसे काटने के लिए जरा भी जिम्मेदार नहीं है। इस भाँति एक चींटी के विरुद्ध न्याय करने में वह अनिवार्यतः अनेक निर्दोष चींटियों के प्रति अन्याय कर डालता है। पवित्र सेवा की कला का ज्ञान प्राप्त किये बिना जो मनुष्य उदार भावना से प्रेरित हो कर सार्वजनिक जीवन के चक्कर में पड़ जाता है उसका चींटी मारने वाले मनुष्य के ही समान हाल होता है। वह निःस्वार्थ भले हो, किंतु उसके कार्य समता की स्थापना करने के बदले अस्तव्यस्त विषमता की ही उप्राप्ति करते हैं क्योंकि जटिलताएं पैदा किए बिना सच्ची एवं प्रभावपूर्ण सेवा करने की कला उसने सीखी ही नहीं। अतएव यदि हम चाहते हैं कि हमारी सेवा संसार के लिए एक दुष्परिणाम-शून्य, अमिश्रित वरदान हो तो उसका संपूर्ण ज्ञान के द्वारा निर्विष्ट होना अत्यंत आवश्यक है।

जब सेवा निःस्वार्थ भाव से की जाती है तो वह सदैव कर्मयोगी के लिए लाभदायक होती है यद्यपि वह किसी पुरस्कार या फल की प्राप्ति के उद्देश्य से सेवा नहीं करता। इसमें संदेह नहीं कि अज्ञान-पूर्वक निःस्वार्थ सेवा करने वाले को भी आध्यात्मिक लाभ अवश्य प्राप्त होते हैं; किंतु ऐसी सेवा से दूसरों को बहुत कुछ अनावश्यक पीडा पहुँचती है। जब निःस्वार्थ सेवा ज्ञान-पूर्वक की जाती है तो न केवल करने वाले को आध्यात्मिक लाभ होता है, किंतु जिस पर वह की जाती है उनका भी भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारी निःस्वार्थ सेवा सभी के लिए अमिश्रित हित हो तो उसका ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित होना निहायत जरूरी है।

जिसे सामान्य मनुष्य सेवा के नाम से पुकारते हैं उसे ही विशेष स्थितियों में, गुरु कुसेवा समझता है, क्योंकि उसे परिस्थिति का भ्रांतिरहित ज्ञान होता है और उस परिस्थिति की आवश्यकताओं का उसे गंभीरतर बोध होता है। उन लोगों को भोजन देना जिन्हें उसकी आवश्यकता हो एक सेवा-कार्य है। इसे सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं। किंतु एक विशिष्ट परिस्थिति में भोजन माँगने

वाले को उसी के हित के लिए भोजन न देना ही उचित हो सकता है। भोजन के लिए भीख माँगने की प्रवृत्ति अवांछनीय संस्कारों की सृष्टि करती है और ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुष्य को भोजन देना उसके ऐसे संस्कारों के भार को बढ़ाना है। अतएव उसे भोजन दे कर यद्यपि तुम उसकी सेवा करते हुए दिखाई देते हो तथापि तुम वस्तुतः उसके बंधनों की वृद्धि करने में ही सहायक होते हो। और यद्यपि उसे भोजन देने में तुम्हारा उसे अपने अनुग्रह के भार से आक्रांत करने का हेतु नहीं रहता किंतु तुम जब ज्ञानपूर्वक परोपकार न करके केवल आदत के कारण परोपकार करते हो, तुम उपकार के बदले अपकार करने में ही सफल होते हो।

उपर्युक्त उदाहरण पर जो बात लागू होती है वही बात अन्य सुस्पष्ट तथा अस्पष्ट कार्यों पर भी लागू होती है, और कर्ता के संकुचित दृष्टि-कोण से जो कार्य शुद्ध-सेवा कार्य सा प्रतीत होता है वही कार्य उच्चतर दृष्टि से पात्र के लिए निश्चित रूप से कुसेवा ठहरता है। जिस प्रकार स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक पदार्थ रोगी के लिए विष हो सकता है उसी प्रकार सामान्य लोगों की दृष्टि में अच्छी दिखने वाली वस्तु किसी खास मनुष्य के लिए बुरी हो सकती है। अतः विवेक सम्मत परोपकार के लिए परिस्थिति की आध्यात्मिक आवश्यकता का गंभीर ज्ञान आवश्यक है।

ऊपर जो कहा गया है उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि लोगों को सेवा करते समय अधिक सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए । उन्हें निःस्वार्थ सेवा-भाव में निरुत्साहित होने की जरूरत नहीं है । यह सच है कि केवल गुरु ही को किसी परिस्थिति की आध्यात्मिक माँग की भ्रांति रहित जानकारी रहती है । किंतु यदि वे मनुष्य जिन्हें अपने निर्णय के निर्दोष होने का पक्का निश्चय नहीं है, अनजान में कुत्सेवा कर जाने के डर से स्वेच्छा-प्रेरित सेवा कार्य करना ही बंद कर दें, तो यह दुःख की बात होगी । यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि विवेक-रहित सेवा करने से भी सदा आध्यात्मिक लाभ होता है ।

परिस्थिति की आध्यात्मिक माँग को समझने में भूल करने की संभावना कोई बड़े भारी डर की बात नहीं है । सच पूछा जाय तो गलत उद्देश्य या भ्रांत हेतु से की जाने वाली सेवा अनासक्ति-पूर्वक की जानी चाहिए । सेवा में ही आध्यात्मिक दृष्टि से असली खतरा रहता है । जब तुम किसी मनुष्य को अनुग्रहित करने की गरज से उसकी सेवा करते हो और ऐसा करने से तुम्हें गर्व का अनुभव होता है तो तुम सेवा

ग्रहण करने वाले का ही आध्यात्मिक नुकसान नहीं करते हो अपितु अपने को भी हानि पहुंचाते हो। सेवा करते समय यदि तुम खुशी मानते हो और तुम्हें यह अभिमान होता है कि तुम एक सत्कार्य कर रहे हो तो तुम अपने कर्म से आसक्त तथा बद्ध होते हो। बंधन चाहे लोहे का हो या सोने का, आखिर वह बंधनही है। इसी प्रकार मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि में बद्ध ही रहता है फिर चाहे वह दुष्कर्मों पर आसक्त हो कर बद्ध होवे अथवा सत्कर्मों पर आसक्त होकर बद्ध होवे। अतः कर्म-बंधन से मुक्त रहने का उपाय यह है कि मनुष्य विलकुल आसक्ति रहित हो कर सेवा करे। “मैं किसी को अनुग्रहित कर रहा हूँ” यह विचार सेवा करते समय सर्व प्रथम मन में उत्पन्न होता है। “जिसने मुझे सेवा करने का अवसर दे कर मुझपर उपकार किया उसका मैं आभारी हूँ” ऐसे विपरीत विचार के द्वारा उक्त गर्वित विचार को नष्ट कर देना चाहिए। इस विनीत विचार से अनासक्ति सुलभ होगी तथा सत्कर्मों के बंधन से मुक्ति प्राप्त होगी। अतः व्यापक विवेक से सम्मत सेवा का केवल निःस्वार्थ होना पर्याप्त नहीं है और न पात्र की आवश्यकता की पूर्ति करने में उसकी इयत्ता है किंतु उसका विलकुल आसक्तिशून्य होना भी अत्यंत आवश्यक है। निःस्वार्थ, ज्ञान मूलक एवं आसक्ति-रहित, सेवा के द्वारा ही जिज्ञासु अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हो सकता है।

सेवा के द्वारा जिस प्रकार का कल्याण किया जाता है उसके गुण पर ही सेवा का मूल्य अवलंबित रहता है। दूसरों की शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करना सेवा है। दूसरों की बुद्धि को विकसित करना सेवा है; लोगों के हृदयों को भोजन देना सेवा है, तथा सौन्दर्य-संबंधी (aesthetic) आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी सेवा है। इस भाँति भिन्न २ ढंग से निःस्वार्थता-पूर्वक सेवा की जा सकती है। किंतु इन सभी प्रकार की सेवाओं का एक समान मूल्य नहीं है। मनुष्य की जैसी बुद्धि रहेगी वैसी ही कल्याण-विषयक उसकी भावना रहेगी और लोगों की सेवा करके वह वैसा ही कल्याण करना चाहेगा। अतः परम उत्कृष्ट तथा परम मूल्यवान् सेवा करने में केवल वही मनुष्य सफल होता है जिसे इस बात का स्पष्टतम ज्ञान है कि लोगों का किस बात में परम कल्याण है। ऐसी सर्वोपरि प्रकार की सेवा करने में वे लोग अयोग्य ठहरते हैं जिन्हें अंतिम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। ईश्वर-ज्ञान-शून्य मनुष्य की सेवा का वही मूल्य नहीं हो सकता जो मूल्य ईश्वर-ज्ञान-संपन्न मनुष्य की सेवा का है। एक अर्थ में, सच्ची सेवा ईश्वर-ज्ञान के बाद ही शुरू होती है।

जिज्ञासुओं एवं महानुभावों में संतत विद्यमान रहने वाली सेवा-वृत्ति यदि गुरु के कार्य से संयुक्त कर दी जाय

तो वह सुव्यवस्थित रूप से विधायक आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि में लगायी जा सकती है।
 गुरु की सेवा से गुरु अपनी अनन्त ज्ञान की प्रेरणा से ईश्वरज्ञान मुलभ समस्त संसार की सेवा करते तथा होता है। उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वे उसके सार्वलौकिक कार्य में अपने हाथ बँटाते हैं। उनकी सेवा को गुरु के ज्ञान तथा दूरदर्शिता की सुविधा रहती है। स्वेच्छापूर्वक गुरु के कार्य में भाग लेने से न केवल सेवा का मूल्य बढ़ता है किंतु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम अवसर भी हाथ लगता है। महत्व में, गुरु के आदेश के अनुसार की जाने वाली सेवा स्वयं गुरु के द्वारा की जाने वाली सेवा से ही दूसरे नंबर की है।

बहुतेरे मनुष्यों की सेवा-संबंधी भावना संसार के कर्मक्षेत्र में किसी निश्चित इष्ट फल की प्राप्ति की भावना से अविभाज्य रूप से गुंथी हुई रहती है।
 उनकी दृष्टि में सेवा का अर्थ या तो अशिक्षा को दूर करना होता है या मानवीय यातनाओं का निवारण करना होता है या तो व्यक्ति अथवा समाज की समृद्धि पर कुठराघात करनेवाली कठिनाइयों या अडचनों को हटाना होता है। जिज्ञासुओं, राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों तथा अन्य सज्जनों के द्वारा इसी प्रकार की सेवा की जाती है। यद्यपि ऐसी सेवा का भी कुछ कम आध्यात्मिक महत्व

सेवा फलासक्ति से मुक्त होना चाहिए।

नहीं है तथापि इस प्रकार की सेवा का कहीं भी जा कर अंत नहीं होता । इन दिशाओं में किसी व्यक्ति के लिए कुछ उद्देश्य हो सकते हैं । किंतु उसके अनेक उद्देश्य हर हालत में अपूर्ण ही रहेंगे । अतः जब तक सेवा की भावना फलप्राप्ति की भावना से जकडी हुई रहेगी तब तक मनुष्य अनिवार्य रूप से एक प्रकार के अभाव के भाव से सदैव ही भराक्रांत रहेगा । फलों या परिणामों की कभी समाप्त न होने वाली अवली के पीछे पडने से अनन्तता की प्राप्ति असंभव है । किसी नियत या निश्चित फल की प्राप्ति जिनका लक्ष्य हुआ करता है उनके मन पर एक स्थायी भार लदा रहता है ।

इसके विपरीत सत्य के साक्षात्कार के पश्चात् की जाने वाली सेवा आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान की सहज अभिव्यक्ति होती है ! और यद्यपि ऐसी सेवा से भी संसार के कर्म-क्षेत्र में महत्व-पूर्ण फलों की प्राप्ति होती है तथापि फल लालसा के भार से वह जटिल एवं बोझिली नहीं हुआ करती । जिस प्रकार सूर्य इस लिए चमकता है कि चमकना उसका स्वभाव है, इस लिए नहीं कि चमक कर वह कोई फल प्राप्त करना चाहता है, उसी प्रकार ईश्वर-ज्ञानी मनुष्य सेवा तथा आत्म-बलिदान का जीवन इस लिए यापन करता है

ईश्वर-ज्ञान के बाद की सेवा तथा ईश्वर-ज्ञान से पूर्व की सेवा में आकाश पाताल का तर है ।

कि ऐसा करना उसके दिव्यजीवन का सारभूत स्वभाव है, न कि इस लिए कि उसे किसी फल की प्राप्ति की लालसा है। उसका जीवन किसी उपलब्धि की आशा में किसी पदार्थ की ओर बहिर्गमन या किसी वस्तु के अनुसरण के समान नहीं होता। फल-प्राप्ति के द्वारा सम्पन्न या समृद्ध होने की उसकी आकांक्षा नहीं रहती। वह तो अनन्त की प्राप्ति की परिपूर्णता में पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुका रहता है। उसकी सत्ता का अजस्र प्रवाह अन्यरूप धारी प्राणियों के लिए एक उपकार है और इस प्रवाह से सिंचित होने वाले मनुष्यों का अवश्यमेव भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। चूंकि उसका आनन्द उसकी अंतर्भूत दिव्यता के ज्ञान की नींव पर अधिष्ठित होता है अतः वह अन्य रूपधारी प्राणियों की पीडा एवं अपूर्णता से न्हास को प्राप्त नहीं होता और उसका ज्ञान किसी अप्राप्त वस्तु की अपूर्णता या अभाव के लेशमात्र क्लेश से पीडित नहीं होता। ईश्वर ज्ञान के उपरांत की जाने वाली सेवा में आकाश पाताल का अंतर है। गुरु का जीवन सेवामय जीवन है, उसका जीवन उसके खुद के आत्मा के अन्य रूपों के लिए शाश्वत आत्मबलिदान है। इस प्रकार की विशिष्ट सेवा जो केवल ईश्वरज्ञानी पुरुष ही करने में समर्थ होते हैं उस सेवा से एकदम भिन्न है जो सेवा उन मनुष्यों के द्वारा की जाती है जिन्हें सत्य-साक्षात्कार नहीं हुआ रहता।

ज्ञान—प्राप्ति के मार्ग।

आत्मा तथा भौतिक वस्तु का शुरु में भेद मालूम होने से ही आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग भली भाँति समझ में आ सकते हैं। भौतिक वस्तु का बोध करने के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है, और आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक साधनों की आवश्यकता

होती है। इन्द्रिय अपने विभिन्न संवेदनों से मन या बुद्धि के सम्मुख जो विषय उपस्थित करते हैं उन पर मन या बुद्धि की क्रिया के द्वारा भौतिक वस्तु का बोध प्राप्त होता है। किंतु आत्मा का ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा प्राप्त होता है। बिना साधन या माध्यम लिए आत्मा के द्वारा यह जो आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है जो बहुत विरल एवं दुःसाध्य है किंतु हृदय के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्कृष्ट द्वितीय मार्ग है, न कि बुद्धि के द्वारा।

भौतिक वस्तुओं पर क्रिया और विचार करने का मन का अभ्यास हुआ करता है और भौतिक वस्तुओं

का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे वासनाओं और तृष्णाओं से प्रेरणा शक्ति मिलती है। अतः जब आध्यात्मिक समस्याओं की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होता है तो वह अपने अभ्यास के अनुसार उन्हें समझने के लिए उन्हीं पद्ध-

भौतिक वस्तु-संबंधी बुद्धि की ग्रहण-विधि तथा विचारणा आत्म-ज्ञान के लिए अपर्याप्त है।

तियों का आश्रय लेता है और भौतिक वस्तुओं के बोध के लिए अपने द्वारा अविष्कृत विचारणाओं का वह उपयोग करता है। आध्यात्मिक समस्याओं का बोध प्राप्त करने के लिए यह विधि अवश्यतः निष्फल होगी क्योंकि वह तमाम विचार-सरणी, जिसका भौतिक वस्तुओं के बोध के लिए बुद्धि क्रम-क्रम से विकास करती है, आत्मा के ज्ञान के लिए अपर्याप्त एवं अयोग्य है। आत्मा को विचार के द्वारा ग्रहण करना, कानों के द्वारा देखने के अथवा आंखों के द्वारा सुनने के समान असंभव है। हृदय से पृथक् हो कर यदि मन स्वतंत्र रूप से आत्मा को समझना चाहेगा तो वह भौतिक जगत् की पूर्वानुभूत वस्तुओं से उसका सादृश्य या सामंजस्य स्थापित करने के लिए विवश होगा किंतु ऐसा करने से आत्मा मन का एक विषय बन जाता है जो वह नहीं है।

बुद्धि की बोध-विधि तथा हृदय की बोध विधि में अंतर है। बुद्धि इंद्रिय प्रदत्त तथा इंद्रिय जनित संवेदन पर अवलंबित रहती है फिर वह अनुमान से निष्कर्ष निकालती है और फिर निर्गत सिद्धान्तों के लिए प्रमाण खोजती है। किंतु हृदय की अनुभूति सीधी सादी होती है। हृदय अपने सहज अनुभव से किसी वस्तु का मूल्य आँकता है। मनुष्य अपने जीवन के नाना प्रसंगों, और परिस्थितियों से क्रमशः

मन और हृदय के बीच में संघर्ष।

गुजरता हुआ जब आध्यात्मिक ज्ञान की ओर आकर्षित होता है तो हृदय अपने पूर्व अनुभव से प्राप्त प्रेरणा के अनुसार सहज रूप से उसका महत्व स्थिर करता है। बहुतेरे मनुष्यों के जीवन में मन और बुद्धि में बैर हुआ करता है और दोनों के बीच में संघर्ष होने के कारण उनका बोध क्लिष्ट और जटिल हो जाता है। हृदय अपने ढंग से जीवन की एकता का अनुभव करता है और प्रेम, त्याग, बलिदान तथा सेवा के द्वारा अपनी पूर्ति करना चाहता है। लेने की अपेक्षा देने का उसे ज्यादा ख्याल रहता है। अंतःकरण की जो अंतःस्थित प्रवृत्ति अपने को अपने आभ्यन्तर जीवन के तात्कालिक सहज ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त करती है वही हृदय को प्रेरणा शक्ति देती है जिस पर वह अवलंबित रहता है और उसे उन अन्य प्रमाणों या बौद्धिक समर्थनों की परवाह नहीं होती जिनकी भौतिक वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए मन को आवश्यकता हुआ करती है। मन भौतिक वस्तुओं के कर्मात्मक संपादन में पृथक्त्व एवं नानात्व के अनुभव से ओतप्रोत हो जाता है, और अतएव, वह, उन अहंभाव मूलक प्रवृत्तियों की वृद्धि करता है जो मनुष्य को मनुष्य से विभाजित करती हैं और उसे स्वार्थी तथा अधिकार-लोलुप बनाती हैं। किंतु हृदय अपनी आंतरिक अनुभूतियों के द्वारा प्रेम की दीप्ति को अनुभव करता है, और आत्मा की एकता की झांकी प्राप्त करता है। अतः वह आत्मबलिदान की उन प्रवृत्तियों के द्वारा अपनी

अभिव्यक्ति खोजता है जो मनुष्य और मनुष्य को एकता के सूत्र में गूँथती है और उसे निःस्वार्थ और उदार बनाता है। अतएव “ हृदय की आवाज ” तथा बुद्धि के तकाजे के बीच में आवश्यक रूप में संघर्ष होने लगता है। किंतु हृदय की आवाज हृदय के आंतरिक जीवन की स्वाभाविक ध्वनि है और बुद्धि का तकाजा बाह्य जीवन के दृश्यमान एवं भ्रमात्मक अनेकता का विकार है।

जब मन अपनी उचित मर्यादा को बेलाग लॉघ कर हृदय प्रदेश में अनधिकार प्रवेश करता है तो वह किसी को प्रेम करने के पहले प्रेम के विषय के संबंध में प्रामाणिक विश्वास तथा मन आश्वासन आश्वासन की खोज करता है। इस लोलुप तथा विश्व-शर्त की पूर्ति के बाद ही वह प्रेम कर सनीय प्रमाण-सकता है। किंतु उस प्रेम की क्या खोजी होता है। कीमत है जो आप ही आप सहज रूप से उत्पन्न नहीं होता! प्रेम बौद्धिक तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं हो सकता। वह कोई सौदे की चीज नहीं है जिसका मोलभाव क्रय-विक्रय किया जाय। प्रेम करने के पूर्व यदि तुम प्रेम की वस्तु के संबंध में निश्चित जानकारी हांसिल करना चाहते हो तो तुम्हारा प्रेम मोल भाव करने वाला स्वार्थ है। उदाहरणार्थ, बहुतसे लोग मेरे दिव्यत्व पर विश्वास करने के लिए प्रमाण चाहते हैं। केवल इसी शर्त पर वे मुझे

प्रेम कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि वह चाहते हैं कि चमत्कार दिखला कर मैं अपने आध्यात्मिक सिद्धि का उनके सामने सुवृत पेश करूं। चमत्कार देख कर जो विश्वास पैदा होगा वह उस पराकोटि के प्रेम को प्रवाहित करने में सहायक न हो कर बाधक ही होगा जो प्रेम की वस्तु से कुछ पाने की अपेक्षा किये बिना स्वतःही स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होता है।

जब मन विश्वास के लिए प्रमाण और समर्थन खोज करता है (चमत्कारों और सांसारिक सुवृत्तों के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान के सहायक के रूप में) तब वह हृदय के प्रांत में धृष्ट प्रवेश करता है। कर्मविषयक संसार में कुछ निश्चित तथा ठोस पदार्थों की प्राप्ति के लिए गैरंटी के रूप में प्रमाण और समर्थन आवश्यक तथा महत्वपूर्ण हो सकते हैं। थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि चमत्कारों या सांसारिक सुवृत्तों के द्वारा किसी मनुष्य की बुद्धि को ईश्वर के अस्तित्व का विश्वास हो गया। किंतु ऐसे विश्वास से ही वह ईश्वर से प्रेम नहीं करने लग जायगा, उसका हृदय द्वार नहीं खुल जायगा। ऐसे थोथे रहस्योद्घाटन से उसके मन में ईश्वर के प्रति जो निष्ठा पैदा होगी वह या तो भय के सबब पैदा होगी या कर्तव्य के भाव से पैदा होगी। किंतु बाह्य-वस्तु-मूलक बौद्धिक प्रमाण पर अवलंबित विश्वास से प्रतिबंध-रहित स्वाभाविक प्रेम का जन्म

बौद्धिक विश्वास
प्रेम को अवृद्ध
करता है

नहीं हो सकता। जहाँ ऐसे सरल सहज तथा स्वेच्छा-मूलक प्रेम का अभाव है वहाँ आनंद और सौन्दर्य पास में नहीं फटक सकते। प्रेम पारावार तुल्य ईश्वर के स्वभाव को मन ग्रहण नहीं कर सकता। ईश्वर हृदयगम्य है। चमत्कारों के बौद्धिक अनुसंधान से ईश्वर नहीं जाना जा सकता। यही वजह है कि मैं उन्हें कोई चमत्कार नहीं दिखलाता जो मुझे अत्यंत प्रिय तथा मेरे अत्यंत पास हैं। अपनी दिव्यता पर लोगों को विश्वास दिलाने के लिए चमत्कार दिखलाने की अपेक्षा यह मुझे अधिक पसंद है कि मेरा एक भी अनुयायी न हो। यह सच है कि लोग जब मुझे प्रेम करते हैं तो उन्हें बहुधा अभूतपूर्व आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। और ऐसे अनुभव उनके हृदय को अधिकाधिक खोलने में सहायक होते हैं। प्रमाणों के पीछे पड़नेवाली मानसिक तृष्णा की तृप्ति के लिए ये अनुभव नहीं दिखलाये जाते और इन्हें अंतिम लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिए।

जब मनुष्य कार्यों की केवल वास्तविक महत्ता से एकमात्र वास्ता रखने के बजाय उन कार्यों के फलों पर अपनी निगाह रखता है तो वह आध्यात्मिक समस्याओं को केवल मन के द्वारा सुलझाने का यत्न करता है। इस प्रकार वह हृदय की उचित क्रिया में दखल डालता है या दस्तंदाजी करता है। मन सभी किस्म की चीजें चाहता है अतः उसे वस्तुविषयक सुवृत्त, विश्वसनीय प्रमाण, एवं

असंदिग्ध आश्वासन की दरकार होती है। किंतु हृदय के सहज प्रवाह के मार्ग में बुद्धि की यह मांग एक अवरोध है। हृदय के प्रेम का सहज प्रवाह तो मनुष्य के सच्चे आध्यात्मिक स्वभाव पर निर्भर है और यह सहज प्रभाव ही उसकी आध्यात्मिकता का वर्धक है। तुम बुद्धि से किसी को प्रेम नहीं कर सकते। बुद्धि तुम्हें प्रेम का सिद्धान्त दे सकती है, प्रेम वह नहीं दे सकती। एक खास प्रकार के योगी मन के द्वार जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह केवल शुष्क एवं बुद्धि प्रधान होता है। इससे उन्हें प्रेम-प्रधान आध्यात्मिक आनंद नहीं मिलता। प्रेम और आनंद ही जीवन की सार वस्तुएं हैं और बुद्धिगम्य शुष्क समाचार मूलक ज्ञान से प्रेम और आनंद की प्राप्ति नहीं होती। सार तत्वों के बौद्धिक ज्ञान का नाम आध्यात्मिकता नहीं। इन सार तत्वों को आचरण में परिणत करना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। आंतरिक अनुभूति का ज्ञान ही आध्यात्मिक ज्ञान कहा जा सकता है और यह ज्ञान बुद्धि पर नहीं, हृदय पर अवलंबित है। बौद्धिक ज्ञान केवल एक सूचना है और बाह्य होने के नाते वह केवल सतह का उथला ज्ञान होता है। उससे सत्य की उपलब्धि नहीं होती; केवल सत्य के आभास की उपलब्धि होती है। जीवन सागर की अदृश्य गहराई की निम्नतम तह की थाह तो हृदय ही ले सकता है।

अनेक मनुष्यों की बुद्धि असंख्य चाहों के बोझ से लदी रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसा जीवन निम्नतम कोटि का मानवीय जीवन है। सर्वोत्कृष्ट कोटि का मानवीय जीवन चाहशून्य होता है। संतोष एवं पर्याप्तता उसके लक्षण होते हैं। सभी सुख खोजते हैं किंतु थोड़े लोग सुख पाते हैं क्योंकि सच्चा सुख तभी मिलता है जब मनुष्य चाहों से बिलकुल मुक्त हो जाता है। चाह-शून्यता की सर्वोपरि अवस्था बाहर से निष्क्रिय और सुलभ सी प्रतीत हो सकती है। किंतु पूर्ण चेतना के साथ (अर्थात् बिना नींद सोये) यदि कोई थोड़ी देर ही बिना किसी वस्तु की इच्छा किये चुपचाप बैठने की कोशिश करे तो उसे मालूम हो जायगा कि चाह-शून्यता की प्राप्ति दुर्लभ तथा दुःसाध्य है और वह प्रचंड आध्यात्मिक क्रिया के ही द्वारा प्राप्त की जा सकती है, तथा कायम रखी जा सकती है। सच पूछा जाय तो पूर्ण चाह-शून्यता तब तक अप्राप्य है जब तक जीवन मन के दुर्बल बोझ से आक्रांत है। यह अवस्था मन से ऊपर उठने पर ही प्राप्त की जा सकती है। इच्छा शून्यता से प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति करने के लिए मन के परे जाने की आवश्यकता है।

तथापि, नितान्त चाह-शून्य जीवन तथा अत्यंत चाह-भाराक्रांत जीवन के दो धारों के बीच एक ऐसी

व्यावहारिक जीवन पद्धति का आश्रय लिया जा सकता है जिसमें मन और हृदय के बीच समस्वरता हो। जब ऐसी समस्वरता स्थापित हो जाती है तो मन जीवन के लक्ष्यों का निरंकुश निर्देशक नहीं बन जाता किंतु हृदय के द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यों की सिद्धि में केवल सहायक बनता है।

हृदय के किसी निर्णय को कार्य रूप में परिणत करना स्वीकार करने के पूर्व वह अपनी किसी शर्त पूर्ति नहीं चाहता। दूसरे शब्दों में सांसारिक समस्या को हल करने के संबंध में मन जिस न्यायाधीश के पद पर आसीन रहा है, वह उस पद को त्याग देता है और वह हृदय के आदेश और निर्णय को अवितर्क स्वीकार करता है।

मन विद्या का भंडार है, किंतु हृदय आध्यात्मिक ज्ञानका भंडार है। धर्म और विज्ञान के बीच तथाकथित संघर्ष तभी पैदा होता है जब बुद्धि-गम्य तथा हृदय-गम्य ज्ञानों के सापेक्ष महत्त्व को ठीक-से नहीं समझा जाता। केवल मन के द्वारा सच्चे तत्त्वों के ज्ञान का संग्रह करने का प्रयत्न व्यर्थ है। मन तुम्हें यह नहीं बतला सकता कि कौनसी वस्तुएं प्राह्य हैं और कौनसी त्याज्य। वह सिर्फ अबौद्धिक प्रेरणाओं द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों को प्राप्त करने का तरीका ही सुझा

जीवन का लक्ष्य निर्दिष्ट करने में हृदय को पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए।

सकता है। बहुतेरे मनुष्यों का मन इच्छाओं की प्रेरणा से लक्ष्य स्वीकार कर लेता है। इसका अर्थ आध्यात्मिक जीवन का निषेध करना है। हृदय की गंभीरतम प्रेरणा से जब मन अपने लक्ष्यों एवं इष्ट तत्वों को स्वीकार करता है तभी वह आध्यात्मिक जीवन में सहायक होता है। अतः मन को हृदय के साथ सहयोग करना चाहिए। हृदय के सहज ज्ञान को प्रधान तथा तथ्य विषयक बौद्धिक ज्ञान को गौण होना चाहिए। एवं जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने में हृदय की स्वतंत्रता के साथ मन की छेड़खानी हरगिज नहीं करनी चाहिए। व्यावहारिक जीवन में मन का स्थान है, किंतु उसका कार्य हृदय के निर्णय का अनुसरण करना है।

मन और हृदय के बीच समस्वरता होने से ही आध्यात्मिक ज्ञान का आविर्भाव होता है। मन और हृदय के बीच समस्वरता स्थापित करने का यह अर्थ नहीं है कि दोनों की क्रियाएं पारस्परिक सहयोग होने पर ही मन और हृदय के बीच समस्वरता स्थापित हो सकती है। मिश्रित कर दी जायें। समस्वरता का अर्थ कार्य-विरोध नहीं किंतु कार्य-सहयोग है। दोनों की क्रियाएं भिन्न भिन्न होंगी और दोनों का महत्व भी भिन्न भिन्न होगा। समान क्रिया या समान महत्व समस्वरता नहीं है। हाँ, मन और हृदय को "समभार" करने की परम आवश्यकता है। किंतु

मन के विरुद्ध हृदय का विधान और हृदय के विरुद्ध मन का विधान करने से दोनों के बीच समस्वरता नहीं होगी । दोनों के बीच अस्वाभाविक प्रतिद्वंद्विता से नहीं किंतु विवेक सम्मत सुव्यवस्था की स्थापना से ही समभारता लाई जा सकती है । जब मन और हृदय अपनी अपनी नियत क्रियाएं बिना एक दूसरे की क्रिया में दखल डाले करते हैं तो वे समभार कहे जा सकते हैं । दोनों के समभार होने पर ही दोनों में समस्वरता हो सकती है । आध्यात्मिक ज्ञान के अविभाज्य जीवन की अनुभूति के लिए मन और हृदय के बीच समस्वरता का होना परम आवश्यक है ।

नवयुगनिर्मिति की पूर्वयातनाएं ।

विश्वका तूफान जो कि कई दिनों से घुट रहा है अब मानों फूट कर बाहर निकल रहा है और वह अन्तिम सीमातक पहुंचतेही विश्वव्यापी दुर्घटना में परिणत होगा । भौतिक सुख के खींचने में सभी शिकायतों ने भयानक रूप धारण किया है और विरोधी विचारधारणाओं ने मनुष्य को स्वार्थांध बनाकर उनमें विरोध पैदा कर दिया है । मनुष्य अपनी और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ ठहरा है । और इसका कारण स्पष्ट है । मनुष्य अपने मूल-स्वभाव और जीवन का सच्चा ध्येय ठीकसे नहीं समझ सकता । इसीलिये वह न तो रचनात्मक और न निर्मायक कार्य कर सकता है ।

संसार भयंकर अंधकार और प्रकाश की महान शक्तियों के संग्राम का अनुभव कर रहा है । एक ओर स्वार्थी मनुष्य है जो सुख और अधिकार प्राप्ति की पाशवी इच्छाओं की तृप्ति करने के लिये बेलगाम लालच और बेजोड़ द्वेष लिये अंधे की नाई आगे बढ़ रहा है । कर्तव्य के अज्ञान से आदमी असभ्यता की नीचतम अवस्था में पहुंच गया है और वह अपनी शिवात्मा को निर्जीव भूतकाल के विदीर्ण

होते हुये विधियों के खंडहर के किसी कोने में गाड़ देता है। स्वार्थ और अज्ञान के बन्धनों में बंधे हुए वे अपने दैवी ध्येय को भूल गये हैं। वे पथभ्रष्ट हो चुके हैं और उनके हृदय द्वेष और घृणा से फट गये हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे लोग हैं जो सहनशीलता से और स्वार्थत्याग से अपनी शिवात्मा को प्रगट करते हैं। आधुनिक युद्ध मनुष्य को त्याग, धैर्य, वीरता और सहनशीलता की महान शिक्षा दे रहा है।

मनुष्य में स्वार्थ का रोग, जो विश्वव्यापी और भयंकर है और जिसके इलाज की सख्त जरूरत है, इतना गहरा गड़ा हुआ है कि वह चारों ओर से खोदकर ही निकाला जा सकता है। सच्ची शान्ति और सुख का प्रभात तभी होगा जब मानव के स्वार्थ का अन्त हो जायगा। शान्तिसुख, जो त्यागयुक्त प्रेम में पैदा होता है, वह अमर है। महान् पातकी भी महात्मा बन सकते हैं यदि उनमें पूर्ण हृदय पलटने की शक्ति है।

आधुनिक कोलाहल और विनाश सब दुनिया को ले डूबेगा किन्तु उसके बाद कई दिनोंतक शान्ति का साम्राज्य रहेगा। हमारे समय की यातना को उस आनेवाली शान्ति के लिये सहना अत्यावश्यक है। इस अंधाधुंधी का अन्त केवल एक तरह से हो सकता है। मनुष्य इससे हैरान हो जायगा। मनुष्य को लोभ, द्वेष, और युद्ध से घृणा आवेगी। लोभ और द्वेष उस हद तक पहुँच जावेंगे कि लोगों को एक

तरहकी थकावट आ जावेगी। इस समस्यापूर्ण परिस्थिति में से निकलने का इलाज केवल स्वार्थत्याग ही है। सब समस्याओं को सुलझानेका एकमात्र उपाय होगा—द्वेष छोड़ प्रेम करना, वांचछा छोड़ दान करना और हुकूमत छोड़ कर सेवा करना।

तीव्र यातना दिव्य ज्ञान जागृत करेगी। भयानक दुःख अपना कार्य पूर्णकर क्लान्त मानव को जागृत कर उनमें दिव्य समझ पाने के लिये सच्ची आकांक्षा पैदा करता है। अभूतपूर्व यातनाओं में से अभूतपूर्व आध्यात्मिक सार निकलेगा। सत्यके अचल अधिष्ठानपर जीवनकी रचना करने के लिये इन यातनाओं का सहाय्य होता है। अब समय आ चुका है जब विश्वव्यापी मानवता को जागृत कर उन्हें आध्यात्मिक इतिहास के परिवर्तनपथ पर पहुंचाये और वही दुःख मानव को प्रेमका पथ प्रदर्शित करने का माध्यम बन जाए और मानवता इस दुःख के कारणों की चिकित्सा करे और दिव्य सत्यकी अनुभूति करे। आत्मा का दिव्यत्व और अमरत्व समझना असीम आनंद की बात है। परन्तु यह समझने के लिये मनुष्य को शिवात्मा से अपनी अभिन्नता का अनुभव होना चाहिये।

शिवात्मा से ऐक्यता पाने पर मनुष्यको, सर्वत्र अनन्त परमात्मा ही प्रतीत होता है। और वह ज्ञान उसे अहंबुद्धि तोड़कर मर्यादित जीवन से मुक्त कर देता है। प्रत्येक आत्मा को उच्चतम विश्वात्मा से अपना अभिन्नत्व पूर्ण चेतनावस्था

में समझना पड़ता है। प्राचीन सत्य के प्रकाश में मनुष्य अपने को नयी आकृति देगा। और वह पड़ोसियों के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करेगा।

इस आध्यात्मिक एकता का अनुभव करना मानो सच्ची बंधुता और सहानुभूति प्रदर्शित करना है। और इसी में विश्वबंधुत्व की कल्पना का उद्गम है। जो नवजीवन आध्यात्मिक समझ की नींव पर अधिष्ठित है वह सत्य का पुरस्कार है। यह काल्पनिक नहीं किन्तु व्यवहार्य सत्य है। अब मानव खुनी विरोधों की आग में जल रहा है। असह्य दुःख के द्वारा मानव जड़वाद पर अधिष्ठित हुये जीवन की चिर अस्थिरता का और विफलता का अनुभव करता है। वह घड़ी नजदीक है जब मनुष्य सच्चे सुख की चाह में सच्चे सुख की राह ढूंढेंगे।

वह समय आ गया जब मानव उस दैवी मनुष्य को मिलने की कोशिश करेंगे जो मूर्तरूप सत्य हो और जिस के द्वारा उन्हें शक्ति, स्फूर्ति और आध्यात्मिक समझ मिल सके। वे उस पथ दर्शन को स्वीकार करेंगे जो ईश्वरीय अधिकारवाणी से दिया जायगा। केवल दैवी प्रेम का आविष्कार ही आध्यात्मिक जागृति दे सकता है। इस विश्वव्यापी व्याधि के नाजुक समय में मानव शिवात्मा को अर्पित होकर ईश्वर की इच्छा को अपनी इच्छा बनाने को तैयार हो रहे हैं। दैवी प्रेम अपने दिव्य जादू द्वारा ईश्वर को मानव के हृदय में लायेगा, और उन्हें शाश्वत सत्य और आनंद का

अनुभव करायेगा। वह अनुभव मनुष्य की सबसे बड़ी वाँछा तृप्त करके उन्हें संतोष प्रदान करेगा। दैवी प्रेम मनुष्य को स्वार्थहीन बना कर उसके परस्पर संबंध में उपकारवृत्ति लायेगा। और उनकी समस्याओं को सदा के लिये हल करेगा। विश्वबंधुत्व वस्तुसृष्टि में मूर्तरूप होगा और प्रेम और सत्य के बंधन से सब राष्ट्रों में एकता पैदा होगी।

इस प्रेम और सत्य के लिये ही मेरा जीवन है। और दुःखित मानवता से मैं कहता हूँ:—

“आशावादी बनो। मैं तुम्हें अपने को ईश्वरी कार्य को समर्पित करने की ओर प्रेम और सत्य से विभूषित ईश्वरी कृपा को स्वीकार करने की शक्ति देने के लिये आया हूँ। सब विजयों में श्रेष्ठ जो आत्मविजय है उस को मिलाने में सहायता देने मैं आया हूँ।”

हिंसा और अहिंसा

मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह आकर्षक शब्द पर आसक्त हो जाता है। वह अपनी क्रिया को यंत्र की तरह शब्दों से नियंत्रित होने देता है। इन शब्दों से जो जो अंतस्थ अर्थ व्यक्त होता है उससे उसके कार्य का कोई संबंध नहीं रहता। शब्दों का जीवन में अपना निजी स्थान एवं उपयोग है किन्तु यदि हम चाहते हैं कि हमारा कार्य विवेक-शील हो तो यही नितान्त आवश्यक है कि हम उस अर्थ का सावधानी के साथ विश्लेषण एवं विवेचन करें जिसे प्रकट करने के लिए ये शब्द व्यवहृत होते हैं। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रकार के विवेचन की आवश्यकता है किन्तु उनमें “हिंसा” और “अहिंसा” के समान महत्वपूर्ण शब्द थोड़े हैं। इन शब्दों का सीधा संबंध उन विचार-धाराओं से है जिनके द्वारा विशिष्ट कार्य मात्र ही निश्चित नहीं होता किंतु समस्त जीवन-क्रम निश्चित होता है।

यद्यपि नियमों की रचना सर्वोत्कृष्ट तत्वों को अपनाने के लिए हुई है तथापि यंत्रवत् नियमों के पालन करने

आध्यात्मिक ज्ञान बाह्य नियमों से परे हैं।

का नाम आध्यात्मिक जीवन नहीं है। आध्यात्मिक जीवन अनुभव और ज्ञान का विषय है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है उस ज्ञान की उपलब्धि जो तमाम शाब्दिक व्याख्याओं से परे है।

व्याख्याओं में सत्य को सीमित करने की लोगों की प्रवृत्ति है अतः इन व्याख्याओं में अंतर्हित तथ्यों को खोज निकालने की जिज्ञासा रखनेवालों को बहुधा प्रतिपादित एवं सूत्रबद्ध सिद्धान्तों का गवेषणा-पूर्वक विश्लेषण करना पड़ता है। और इस विश्लेषण को जीवन से लिये गये ठोस उदाहरणों की कसौटीपर निरंतर कसकर उसके सत्यता की जानकारी हासिल करनी पड़ती है। हिंसा और अहिंसा के जैसे परस्परविरुद्ध विचार-धाराओं के आधार पर जो जीवन को निश्चित करनेवाले सिद्धान्त प्रतिपादित होते हैं उनके संबंध में ऐसी विवेचना विशेष आवश्यक है।

सामान्यतः 'हिंसा' और 'अहिंसा'—शब्द इतनी विभिन्न परिस्थितियों पर लागू किये जा सकते हैं कि इन विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में लाये बिना तथा इन्हें विवेचना का आरंभ बिंदु माने बिना-हिंसा तथा अहिंसा के अर्थ का स्पष्टीकरण अधूरा ही रहेगा। तो भी अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि गिन-गिन कर उन तमाम संभव परिस्थितियों की पूरी संख्या ही खत्म करें।

प्रातिनिधिक परिस्थितियों से आरंभ।

केवल कुछ सबसे अधिक प्रातिनिधिक (representative) परिस्थितियों पर विचार करना पर्याप्त होगा। नीचे जिन प्रातिनिधिक परिस्थितियों का उल्लेख है वे इसलिए चुनी गयी हैं कि वे हिंसा और अहिंसा की विचार-धाराओं में निहित मौलिक मर्मपर यथेष्ट प्रकाश डालने की योग्यता रखती हैं।

परिस्थिति नं. १:—मानो कि मनुष्य, जो तैरना नहीं जानता, एक झील में गिर गया है और डूब रहा है। उसके समीप एक दूसरा मनुष्य है जो तैरने में निपुण है और जो उसे डूबने से बचाना चाहता है। डूबता हुआ मनुष्य, भय और जल्दबाजी के सबब सहायतार्थ आये हुए मनुष्य को ऐसे बेहूदे ढंग से पकड़ता या जकड़ता है कि उसका बचाना ही असंभव नहीं हो जाता किन्तु बचानेवाले के भी डूब जाने की संभावना पैदा हो जाती है। अतः सहायता शुरू करने के पूर्व, बचानेवाला मनुष्य डूबते हुए मनुष्य के सिरपर आघात करके उसे बेहोश बना देता है। ऐसी परिस्थिति में, डूबते हुए मनुष्य के सिर पर आघात करना न हिंसा कहा जा सकता और न अहिंसा।

परिस्थिति नं. २:—मानो कि एक मनुष्य किसी ऐसे स्पर्शजन्य रोग से पीड़ित है जो केवल ऑपरेशन के ही

जर्मीनी ऑपरेशन का उदाहरण ।
 द्वारा अच्छा हो सकता है । इस पीड़ित मनुष्य को चंगा करनेके लिए तथा उसके इस स्पर्शजन्य रोग के कीटाणुओं से अन्य मनुष्यों की रक्षा करने के लिए एक जर्मीनी अपनी लुरी से पीड़ित मनुष्य के रोग-ग्रस्त अंग को काटकर अलग कर देता है । इस परिस्थिति में, शरीर को लुरी से काटना भी न हिंसा कहा जा सकता और न अहिंसा ।

आक्रमणकारी राष्ट्र का उदाहरण ।
 परिस्थिति नं. ३:—मानो कि एक आक्रमणकारी राष्ट्र अपने से दुर्बल एक राष्ट्र पर चढाई करता है और कोई तीसरा राष्ट्र दुर्बल राष्ट्र की रक्षा की सदिच्छा से प्रेरित होकर, शस्त्र-बल से इस आक्रमण का सामना करता है । इस परिस्थिति में, दुर्बल राष्ट्र की रक्षा के हेतु, आक्रमण का सामना करने के लिए युद्ध करना न तो हिंसा है और न अहिंसा । ऐसे युद्ध को हम अहिंसात्मक हिंसा (Non-Violent Violence) कह सकते हैं ।

एक पागल कुत्ते का उदाहरण ।
 परिस्थिति नं. ४ :—मानो कि एक पागल कुत्ता आक्रमण करने पर उतारू है । और स्कूल के बच्चों को उसके द्वारा काटे जाने की संभावना है । बच्चों को बचाने के लिए इस स्कूल के शिक्षक पागल कुत्ते को मार डालते हैं । कुत्ते को मार डालना हिंसा अवश्य है लेकिन इसमें द्वेष नहीं है ।

परिस्थिति नं. ५:—मानो कि एक उद्दण्ड मनुष्य एक हृष्ट पुष्ट शरीर वाले मनुष्य पर थूक देता है और इस प्रकार उसे अपमानित करता है, यद्यपि यह उद्दण्ड मनुष्य दुर्बल है।

बलवान की अहिंसा।
अपमानित बलिष्ठ मनुष्य अपमान करनेवाले को कुचल डालने की शक्ति रखता है, तथापि, वह उसे किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाता, किन्तु उसे शांति-पूर्वक प्रेम का उपदेश समझाता है। ऐसा करना अहिंसा है। किन्तु यह बलवान की अहिंसा (Non-Violence of the strong) है।

उपर्युक्त प्रथम तीन परिस्थितियों से यह प्रत्यक्ष है कि कौनसा कार्य हिंसा है और कौन-सा कार्य अहिंसा है, इसका निर्णय तब तक नहीं किया जा सकता जब तक, परिस्थिति के विभिन्न अंग-प्रत्यंग एवं कार्य के प्रेरक हेतु के स्वभाव के सूक्ष्म तथा विवेचनात्मक और गंभीर विचारों में प्रवेश न किया जाय और, अवशिष्ट दो परिस्थितियों से यह सिद्ध होता है कि जहाँ किस कार्य-विशेष को हिंसा अथवा अहिंसा कह देना सरलता-पूर्वक संभव है, वहाँ भी यों कही गयी हिंसा अथवा अहिंसा को कुछ अन्य तत्वों की उपस्थिति के कारण, विशेषणों से संबोधित करना पड़ता है। ये विशेषण उन शब्दों से ध्वनित होने वाले साधारण अर्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ के द्योतक होते हैं।

डूबते हुए आदमी के सिर पर आघात (परिस्थिति नं. १) वाले उदाहरण की सूक्ष्म जांच से जाहिर होता है कि यद्यपि डूबते हुए मनुष्य की पूर्व अनुमति के बिना उसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है, तथापि इस बल का उपयोग उसकी प्राण-रक्षा के लिए किया जाता है। यह ऐसी परिस्थिति है जिसमें मनुष्य की पूर्व-अनुमति के बिना उसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है और इस अर्थ में, इस कार्य को हिंसा कह सकते हैं; किन्तु बल का उपयोग डूबते हुए मनुष्य के हित के लिए किया जाता है, न कि उसे नुकसान या चोट पहुँचाने की इच्छा से, और इस अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि यह कार्य हिंसा नहीं है। इन विशेष अर्थों में, एक ही कार्य को क्रमशः हिंसा और अहिंसा कहा जा सकता है, किन्तु इन शब्दों के साधारण अर्थों में, यह कार्य न तो हिंसा है और न अहिंसा।

स्पर्शजन्य रोग की चिकित्सा के लिए ऑपरेशन (परिस्थिति नं. २) वाला उदाहरण डूबते आदमी के उदाहरण से थोड़ा ही भिन्न है। यहाँ भी बल का उपयोग है (शरीर के रोग-ग्रस्त भाग को काटने की सीमा तक) और जिसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है, उसके हित के लिए ही ऐसा किया जाता है; किन्तु ऑपरेशन के ऐसे बहुत से मामलों में रोगी ऑपरेशन के लिए आवश्यक बल के उपयोग के लिए अपनी पूर्व-अनुमति देता है। ऑपरेशन का उद्देश्य केवल रोगी को

रोग के अधिक आक्रमण से बचाना मात्र नहीं होता किन्तु अन्य लोगों को भी रोग के कीटाणुओं से बचाना होता है। यहाँ बल का उपयोग, रोगी तथा उसके संपर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियोंके अमिश्रित हित के हेतु से, प्रेरित होता है। चूँकि आघात या क्षति पहुँचाने की कोई भावना इस कार्य में नहीं होती, अतः इस परिस्थिति में बल का उपयोग साधारण अर्थ में हिंसा नहीं कहा जा सकता और इसे अहिंसा कहना भी ठीक न होगा क्योंकि जीवित शरीर के एक भाग को काटने का यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आक्रमणकारी राष्ट्र से युद्ध (परिस्थिति नं. ३) वाला उदाहरण भी विचारार्ह एवं शिक्षाप्रद है। यहाँ, किसी स्वार्थ-पूर्ण हेतु अथवा निजी स्वार्थ से नहीं किन्तु केवल दुर्बल राष्ट्र की रक्षा के उद्देश्य से आक्रमणकारी राष्ट्र का सामना करने के लिए जो युद्ध किया जाता है उसका परिणाम आक्रमणकारी पर ध्वंसात्मक प्रहार करने एवं उसे क्षति पहुँचाने के रूप में होता है और बल का उपयोग आक्रमणकारी राष्ट्र की पूर्व अनुमति से नहीं, किन्तु, उसकी हठ-युक्त एवं जागती मनोकामना के खुले विरोध में, किया जाता है। किन्तु इस परिस्थिति में भी हमें हिंसा का प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं मिलता क्योंकि, यद्यपि यहाँ क्षति और हानि पहुँचायी जाती है, तथापि बलका उपयोग केवल आक्रमण-ग्रस्त दुर्बल राष्ट्र के ही हित के लिए नहीं होता; किन्तु एक महत्व-पूर्ण अर्थ में आक्रमणकारी

राष्ट्र के भी हित के लिए होता है, क्योंकि अपने आक्रमण के विरुद्ध जिस बाधा का उसे सामना करना पड़ता है उसके द्वारा, दुर्बल राष्ट्रों पर चढ़ाई करने अथवा दुर्बल राष्ट्रों का शोषण करने की दुष्प्रवृत्ति के रूपमें वह जिस आध्यात्मिक दौर्बल्य या रोग से ग्रस्त है उस रोग से वह छुटकारा पाता है। आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध की गयी यह हिंसा यथार्थ में हिंसात्मक नहीं है अतएव हम इसे अहिंसात्मक हिंसा के नाम से पुकारते हैं।

आक्रमणकारी राष्ट्र से युद्ध (परिस्थिति नं. ३) का उदाहरण शरीर के रोग-ग्रस्त भाग के ऑपरेशन के उदाहरण के तुल्य है। आक्रमणकारी राष्ट्र से युद्ध करने के उदाहरण में, दुर्बल राष्ट्र का हित प्रथम परिणामसा दृष्टिगोचर होता है और आक्रमणकारी राष्ट्र (जिसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है) का हित द्वितीय परिणाम-सा प्रतीत होता है; और ऑपरेशन के उदाहरण में, रोगी (जिसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है) का हित प्रथम परिणाम-सा जान पड़ता है एवं अन्य लोगों का हित द्वितीय परिणाम-सा मालूम पड़ता है। किन्तु यह एक छोटा अंतर है और दोनों परिस्थितियों में जिस पर बल का उपयोग होता है उसका तथा परिस्थिति से संबंध रखनेवाले अन्य लोगों का समान-रूप से हित होता है।

दुर्बल की रक्षा निःस्वार्थ सेवा का एक मुख्य रूप है और कर्मयोग का एक अंग है। इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के

अनिवार्य साधन के रूप में बल का उपयोग करना सेवा के लिए यदि आवश्यक हो, पूर्णतः न्यायोचित है। दुर्बल की रक्षा के लिए यदि इस प्रकार का कोई युद्ध किया जाय तो यह आवश्यक है कि वह निःस्वार्थ एवं घृणा-रहित हो। तभी उसका पूर्ण आध्यात्मिक महत्व हो सकता है। एक स्त्री पर एक मनुष्य अधम मनोवृत्ति से आक्रमण करता है और दूसरा मनुष्य स्त्री के सम्मान एवं प्राण की रक्षा के लिए, तथा आक्रमणकारी को दंड देने और पश्चात्ताप करने के लिए उसे बाध्य करने के हेतु से, बल का उपयोग करता है। जिस प्रकार इस परिस्थिति में बल का उपयोग न्यायोचित है उसी प्रकार दुर्बल की रक्षा के हेतु किया गया बल का उपयोग भी सर्वथा न्यायोचित है।

पागल कुत्ते को मार डालने (परिस्थिति नं. ४) का उदाहरण निःसंदेह हिंसा का उदाहरण है, किन्तु घृणा-रहित होने एवं बच्चों के श्रेष्ठतर हित के लिए की जाने के कारण यह हिंसा न्यायोचित है। उस बलवान मनुष्य का उदाहरण जो बदला लेने के बजाय (परिस्थिति नं. ५) प्रेम का उपदेश समझाता है, अहिंसा का उदाहरण है। यह अकर्मण्यता नहीं है, किन्तु बलवान की अहिंसा है।

पागल कुत्ते के उदाहरण तथा बलवान की अहिंसा के उदाहरण पर टीका।

अहिंसा के प्रकार

(१) Non-Violence Pure and Simple

शुद्ध एवं अमिश्रित अहिंसा

(दिव्य प्रेम पर निर्भर)

इस अवस्था में व्यक्ति समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता है। वह शत्रुता तथा मित्रता दोनों से परे रहता है। किसीभी परिस्थिति में, किसी भी प्रकार की हिंसा उसके मन में प्रविष्ट नहीं होती।

(२) Non-Violence of the Brave

वीर की अहिंसा

(सीमारहित शुद्ध प्रेम पर निर्भर)

यह उन लोगोंपर लागू है जिन्हें समस्त प्राणियों की एकता का यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तथापि, जो किसी को अपना शत्रु नहीं समझते और जो आक्रमणकारी को भी प्रेम के द्वारा जीतने का प्रयत्न करते हैं और जो, आक्रांत होने पर अपने प्राण देते हैं। भय के वशीभूत होकर नहीं किन्तु प्रेम से प्रेरित होकर।

(३) Non-Violence of the Coward

कायर की अहिंसा

(चरित्र की सीमा-रहित दुर्बलता पर निर्भर)

इस श्रेणी में वे व्यक्ति शामिल हैं जो आक्रमण का प्रतिकार-किसी अन्य हेतु से नहीं किन्तु-केवल भय के कारण नहीं करते।

हिंसा के प्रकार

(१) Non-Violent Violence

अहिंसात्मक हिंसा

(सीमारहित प्रेम पर निर्भर)

वह हिंसा, जो केवल दुर्बल की रक्षा के लिए की जाती है तथा जिसे करने में आत्म-रक्षा या स्वार्थ का भाव नहीं रहता ।

(२) Selfless Violence

स्वार्थ-रहित हिंसा

(सीमित मानवीय प्रेम पर निर्भर)

वह हिंसा, जो, आत्म-रक्षार्थ, आक्रांत होने की स्थिति में, की जाती है तथा जिसे करने में अन्य कोई स्वार्थ-युक्त हेतु नहीं रहता-उदाहरण, ऐसी स्थिति जब किसी की माता का सम्मान एक विषयांध आततायी-द्वारा भंग होने पर है । इसी प्रकार जब मातृभूमि का सम्मान खतरे में है और शत्रुओं-द्वारा उस पर आक्रमण हो रहे हैं तब मातृ-भूमि की रक्षा के लिए स्वार्थ-रहित हिंसात्मक प्रयत्न करना स्वार्थ-रहित हिंसा है ।

(३) Selfish Violence

स्वार्थ-युक्त हिंसा

(द्वेष एवं वासना पर निर्भर)

इस श्रेणी में वे व्यक्ति तथा वे राष्ट्र शामिल हैं जो निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए अथवा सत्ता-प्राप्ति तथा निजी लाभ की सिद्धि के उद्देश्य से हिंसा करते हैं।

शुद्ध और अमिश्रित अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम; यह जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। शुद्ध एवं अनन्त प्रेम की यह स्थिति प्राप्त होने पर साधक परमात्मा से युक्त हो जाता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कंठा की परम आवश्यकता है। यह सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने की जिस साधक में तीव्र उत्कंठा है उसे चाहिए कि वह, आरंभ में 'वीर की अहिंसा' का अभ्यास करे। यह आदर्श उन लोगों पर लागू होता है जो किसी को अपना शत्रु नहीं समझते और जो आक्रमणकारी को प्रेम के द्वारा जीतने का यत्न करते हैं तथा जो आक्रांत होने पर अपने प्राण-भयवश नहीं किन्तु प्रेमवश-दे देते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'वीर की अहिंसा' उन लोगों के लिए व्यवहार्य है जिनमें सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने की अति उत्कंठा है। ऐसी उत्कंठा सर्व-साधारण जन-समूह में नहीं पायी जाती। अतः यदि सर्व-साधारण जन-समूह को 'शुद्ध अहिंसा' के सर्वोच्च आदर्श की ओर ले जाना हो तो यह आवश्यक है कि पहले 'वीर

की अहिंसा' के आदर्श को अपना सकने की उसमें योग्यता पैदा की जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति का व्यावहारिक उपाय यह है कि आरंभ में सर्वसाधारण जनों को 'अहिंसात्मक हिंसा' के सिद्धान्त का पालन करने के लिए कहा जाय। बिना किसी स्वार्थ-युक्त अभिप्राय से, केवल दुर्बल की रक्षा के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसात्मक हिंसा है। युद्ध-काल में जब जन-समूह आश्चर्यचकित हो जाता है तथा जब ईश्वर प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कंठा रखने की सलाह को सुनने की उसकी मनस्थिति नहीं होती तब उपर्युक्त सर्वोपरि आदर्श की ओर ले जाने का एकमात्र व्यावहारिक उपाय यह है कि उसे 'अहिंसात्मक हिंसा' के सिद्धान्त की शिक्षा दी जाय। जब जन-समूह अहिंसात्मक हिंसा के आदर्श को पूर्णतः अपना ले तब फिर धीरे धीरे उसे 'वीर की अहिंसा' का आदर्श सिखाया जाय। 'वीर की अहिंसा' के आदर्श का पालन करने की योग्यता का सर्वसाधारण जन-समूह में अभाव है। ऐसे अतैयार लोगों में 'वीर की अहिंसा' के आदर्श के प्रचार का असामयिक प्रयत्न असफल तो होगा ही, साथ ही साथ इस बात का भी खतरा है कि इस असामयिक प्रचार के फलस्वरूप, जन-समूह को 'वीर की अहिंसा' की ओट में घातक 'कायर की अहिंसा' को अपनाने का सहज मौका मिलेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जन-समूह एकमात्र भय के कारण आक्रमण का सामना नहीं करेगा।

‘वीर की अहिंसा’ को अपनाने की योग्यता उत्पन्न करने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर, जन-समुदाय को ‘अहिंसात्मक हिंसा’ की शिक्षा देने के साथ २ ‘स्वार्थ-रहित हिंसा’ के आदर्श की भी शिक्षा दी जाय। दुष्टता-पूर्ण आक्रमण के अवसर पर आत्मरक्षा के लिए की जानेवाली हिंसा ‘स्वार्थ-रहित हिंसा’ है। अन्य किसी निजी स्वार्थ की पूर्ति के हेतु से की गयी हिंसा से वह भिन्न है। जब माता का सम्मान एक विषय-लोलुप आततायी के द्वारा भंग होने पर है और जब इस संकटापन्न परिस्थिति में व्यक्ति हिंसा का आश्रय लेकर माता की रक्षा करता है तो वह ‘स्वार्थ-रहित हिंसा’ के आदर्श का पालन करता है। ठीक इसी प्रकार जब मातृभूमि का सम्मान खतरे में है और उस पर शत्रुओं के द्वारा आक्रमण हो रहे हैं तब मातृभूमि की रक्षा के लिए किया जानेवाला स्वार्थ-रहित हिंसात्मक प्रयत्न ‘स्वार्थ-रहित हिंसा’ है। इस परिस्थिति में जो प्रेम व्यक्त होता है वह सीमित मानवीय प्रेम है; इस प्रेम में स्वार्थ का बिलकुल थोड़ा-सा अंश अवश्य रहता है क्योंकि माता व्यक्ति की खुद की माता होती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, ‘कायर की अहिंसा’ घातक है; इसी प्रकार ‘स्वार्थ-युक्त अहिंसा’ (अर्थात् वह हिंसा जो व्यक्ति या राष्ट्र-द्वारा, सत्ता प्राप्त करने या अन्य स्वार्थ-पूर्ण उद्देश्य की सिद्धि के लिए केवल स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर, की जाती है) भी घातक है।

‘शुद्ध तथा अभिश्रित अहिंसा’ जीवन का चरम लक्ष्य है। ईश्वर के साक्षात्कार की जिज्ञासा रखने वाले सत्यशोधकों को इस सर्वोपरि स्थिति में पहुँचने के लिए ‘र की अहिंसा’ के आदर्श को अपनाना चाहिए। सर्व साधारण लोगों में ईश्वर के साक्षात्कार के लिए यथेष्ट उत्कंठा का अभाव होता है। अतः उक्त सर्वोपरि आदर्श की ओर धीरे धीरे ले जाने के लिए उन्हें, परिस्थितियों के अनुसार, ‘अहिंसात्मक हिंसा’ तथा ‘स्वार्थ-रहित हिंसा’ के आदर्श का अभ्यास कराना चाहिए। अंत में, यह स्पष्टतः समझ लेने की जरूरत है कि ‘अहिंसात्मक हिंसा’ तथा ‘स्वार्थ-रहित हिंसा’ दोनों, जीवन के चरम लक्ष्य (अर्थात् शुद्ध एवं अभिश्रित अहिंसा अथवा अनन्त प्रेम) के प्राप्ति के, साधन मात्र हैं। इन साधनों को साध्य ही नहीं समझ बैठना चाहिए।

किसी कार्य का हेतु तथा परिणाम का निर्णय, उनकी सामान्यतः—स्वीकृत अच्छाई अथवा बुराई पर अवलंबित है; उदाहरणार्थ—‘वीर की अहिंसा’ तथा ‘कायर की अहिंसा’ दोनों अहिंसा हैं किन्तु ‘वीर की अहिंसा’ को प्रेरणा देने वाला हेतु ‘प्रेम’ है तथा ‘कायर की अहिंसा’ को प्रेरणा देने वाला हेतु ‘भय’। परिणामतः यद्यपि ये दोनों अहिंसा समान हैं तथापि दोनों के हेतु परस्पर-

विरोधी हैं। 'वीर की अहिंसा' का हेतु है, सीमा-रहित प्रेम की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देना और 'कायर की अहिंसा' का हेतु है, सीमा-रहित तिरस्कार की प्राप्ति तथा अपने जीवन की रक्षा करना। अतः 'कायर की अहिंसा' का नाम है, 'प्रेम का अभाव' तथा 'वीर की अहिंसा' का नाम है, 'प्रेम-भाव'।

'अहिंसात्मक हिंसा' का नाम 'प्रेमभाव' नहीं किन्तु 'कर्तव्य' है। कर्तव्य होने के कारण यह हिंसा उचित है। कर्मयोग-द्वारा प्रतिपादित परोपकारार्थ कृत निःस्वार्थ कर्तव्य अंततोगत्वा अनन्त प्रेम से ही संबद्ध है, यद्यपि यह प्रेम मानवीय है।

परस्पर-विरोधी शक्तियों का भेद भिटाया नहीं जा सकता किन्तु एक शक्ति को दूसरी शक्ति में रूपांतरित किया जा सकता है; हां रूपांतर की क्रिया तथा शीति सही होनी चाहिए। गलत तौर पर दिया गया खाद्य-पदार्थ विष बन जाता है। तथा अल्प मात्रा में दिया गया विष (जैसे स्ट्रिक्नाइन Strychnine) घमनियों के लिए टॉनिक बनता है। खाद्य-पदार्थ सचमुच में विष नहीं बन जाता और न विष खाद्य पदार्थ ही बनता, तथापि दोनों की क्रिया एवं परिणाम का रूपान्तर हो जाता है।

उपर्युक्त विभिन्न परिस्थितियों के विस्तृत विश्लेषण तथा उनकी पारस्परिक तुलना से यह बात प्रकट होती है कि हिंसा और अहिंसा से संबद्ध प्रश्न उनका औचित्य या अनौचित्य, उनकी आध्यात्मिक ज्ञान सार-पूर्णता या सार-शून्यता, एक सर्व नियमों से परे है। देशीय रूढ नियम की सृष्टि से, निर्णीत उसके लिये ईश्वरीय प्रेम आवश्यक नहीं होते। इन प्रश्नों में गूढ आध्यात्मिक समस्याएं एवं गंभीर अर्थ छिपे रहे हैं। आध्यात्मिक तत्व-विधान की योजना में हिंसा और अहिंसा के लिए कौन से स्थान नियुक्त हैं इसे ठीक समझने के लिए परिस्थिति का अर्थ एवं अभिप्राय का सच्चा ज्ञान आवश्यक है। ईश्वरीय प्रेम द्वैत से परे है, आध्यात्मिक ज्ञान नियमों से परे है। अतः दिव्य प्रेम एवं आध्यात्मिक ज्ञान की सहज प्रेरणा से हमें कार्य करना चाहिए। निरी हिंसा या अहिंसा की अधूरी और अपर्याप्त जानकारी पर निर्भर नारों के द्वारा हमारे कार्य का निर्णय नहीं होना चाहिए; ये नारे फिर कितने ही ऊँचे क्यों न हों।

क्रिया शीलता तथा निष्क्रियता

ईश्वरानुभूति के लिये किये जाने वाले विवेक युक्त कर्मों के अतिरिक्त, अन्य सभी कार्य चेतना के लिये बंधन का सृजन करते हैं। ये कार्य संचित कर्म के द्वारा अज्ञान की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं है संचित अज्ञान की वृद्धि संभव है किन्तु संचित अज्ञान की वृद्धि भी है अर्थात् संचित अज्ञान से ही ये कार्य किये जाते हैं तथा कार्यों के किये जाने पर अज्ञान और भी बढ़ जाता है।

धार्मिक विधि निषेध, तथा बाह्य नियम आचार एवं भिन्न मतों तथा संप्रदायों के आदेश-उपदेश आदि में प्रेम तथा पूजा की भावना उत्पन्न करने की लोकाचार के अंधानुसरण प्रवृत्ति होती है। इस दृष्टि से, एक सीमा से मनुष्य पथ-च्युत हो जाता है तब, वे उस अहंकार को क्षीण-जीर्ण करने में सहायक हैं जिसमें चेतना फँस गई है। किंतु उनका अंधानुकरण तथा विवेक शून्य यंत्र तुल्य पालन करने से प्रेम तथा पूजा की आंतरिक भावना नष्ट होती है और वे अहंकार को जीर्ण करने के बजाय उसे बद्ध मूल करने में सहायक होते हैं। अतः बाह्य लोकाचार तथा विधि नियम मनुष्य को ईश्वर

की ओर अधिक दूर नहीं ले जा सकते; तथा यदि उनका अंधानुकरण किया जाता है तो वे उसी प्रकार बंधन उत्पन्न करते हैं जिस प्रकार कोई अन्य विवेक शून्य कार्य। जब ये बाह्य विधि-नियम उनमें प्रच्छन्न आंतरिक तत्व तथा महत्व को छोड़ बैठते हैं तो वे अन्यान्य विवेक शून्य कार्यों की अपेक्षा भी अधिक घातक सिद्ध होते हैं। क्योंकि जब मनुष्य उनका पालन करता है तब उसे यह विश्वास रहता है की वे ईश्वरानुभूति में सहायक हैं किंतु यथार्थ में वे सहायक नहीं होते। बाह्य आचार-नियम के पालन करने में यह आत्म प्रवंचना रहती है। अतः मनुष्य उनके कारण असली मार्ग को छोड़ कर गलत मार्ग पकड़ लेता है। बहुधा केवल आदत के वशी भूत होकर मनुष्य इन बाह्य विधि नियमों पर इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि तीव्र यंत्रणा का अनुभव करने पर ही उसे उनकी सार-शून्यता का ज्ञान प्राप्त होता है।

विवेक शून्य कार्य की अपेक्षा निष्क्रियता कहीं अच्छी है। निष्क्रियता में कम से कम एक गुण यह है कि वह और अधिक संस्कार तथा उलझन उत्पन्न नहीं करती। सदाचार तथा उदार स्व-रचित बंधनों के द्वारा जीवन तथा भूतकाल में किये गये कार्यों तथा मुक्ति की खोज अनुभवों से उत्पन्न उलझनों में एक करता है। उलझन और जोड़ देते हैं। जीवन स्व-रचित बंधनों से मुक्ति पाने का

एक प्रयत्न है। वह अज्ञान में किये गये कार्यों को निराकरण करने, भूतकाल के संग्रहीत बोझ को उतार फेंकने, अस्थायी प्राप्तियों तथा असफलताओं के कूड़े कर्कट की राशि से त्राण पाने का एक घोर संग्राम है। जीवन भूतकाल के बंधन कारक संस्कारों की गुत्थियों को उधेड़ने तथा अपने स्वनिर्मित दुर्गम पथ से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। ताकि उसके अगले कार्य अनंत के अंतःकरण से प्रत्यक्ष रूप से निःसृत हो तथा उसके कार्य पूर्णतः मुक्त, सीमा रहित, आसक्ति-शून्य तथा न बांधने वाले हों।

जो कार्य ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है वह यथार्थतः विवेक सम्मत तथा आध्यात्मिक दृष्टि से फलोत्पादक होता है,

निष्क्रियता बहुधा विवेक शून्य कार्य तथा विवेक युक्त कार्य के बीच की अवस्था होती है।

क्योंकि वह बंधनों से उद्धार करता है; ऐसा कार्य ईश्वरानुभूति की अवस्था से उत्पन्न कार्य से महत्व में कम है। दूसरे सभी प्रकार के कार्य, चाहे (सांसारिक दृष्टि कोण से कितने भी अच्छे हों, या कितने भी बुरे, कितने ही फलदायक हों या कितने भी निष्फल) बंधनों की उत्पत्ति तथा वृद्धि करते हैं, और इस प्रकार वे निष्क्रियता

से अश्रेष्ठ हैं अर्थात् ऐसे बंधनकारी कार्यों से निष्क्रियता श्रेष्ठ है। निष्क्रियता विवेकयुक्त कार्य से कम सहायक है, किंतु वह विवेक-रहित कार्य से निश्चय ही अच्छी है; क्योंकि निष्क्रियता का अर्थ है उस कार्य का न करना जिसके करने से बंधन पैदा होता है।

विवेक-रहित कार्य की अवस्था से विवेकयुक्त कार्य की अवस्था (बंधनकारक कर्म से अबंधनकारक कर्म) में निष्कर्मता के ही द्वारा बहुधा पदार्पण किया जा सकता है। निष्क्रियता विकास की वह स्थिति है जहां तर्क शंका के कारण विवेक रहित कार्य बंद हो जाता है, तथा विवेक सम्मत कार्य, पर्याप्त वेग या प्रेरणा के अभाव के कारण शुरू नहीं किया जाता है। यह विशिष्ट प्रकार की निष्क्रियता है जिसका पथ की अग्रगति में अपना हाथ रहता है। सामान्य निष्क्रियता तथा इस विशिष्ट निष्क्रियता में भेद है। सामान्य निष्क्रियता जीवन के भय से उत्पन्न होती है या आलस्य से उत्पन्न होती है। विशिष्ट निष्क्रियता विकास-क्रम की दो स्थितियों के बीच की एक स्वाभाविक अवस्था है।

ईश्वर-पुरुष

(भाग १)

साधक तथा सिद्ध पुरुष

ईश्वरानुभूति के पूर्व भी उन्नत साधक चेतना की ऐसी उच्च अवस्थाओं का अनुभव करते हैं, जो बहुत कुछ ईश्वरानुभूति की अवस्था के समान होती हैं। जैसे, उच्चतर भूमिकाओं में स्थित ईश्वरोन्माद का आनन्द। उन्मत्त मस्त-गण तथा सन्त-जन, पूर्णतः निःस्पृह तथा ईश्वरोन्माद के आनन्द में मग्न रहते हैं। एकमात्र ईश्वर से ही उनका वास्ता रहता है अतः वे ईश्वरावस्था में अनुभव होने वाले अद्वितीय उल्लास के पात्र बन जाते हैं। ईश्वर के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा प्रियतम नहीं होता; तथा ईश्वर-मिलन को छोड़कर उनकी कोई दूसरी आकांक्षा नहीं रहती। वे ईश्वर को अपना एकमात्र प्रियतम ही नहीं समझते; किन्तु वे उसे ही एकमात्र सत्य तथा अपना सर्वस्व समझते हैं। वे ईश्वर को छोड़कर अन्य प्रत्येक वस्तु से अनासक्त हो जाते हैं। संसार के मनुष्य जिन सुख-दुःखों से ग्रस्त रहते हैं उनसे वे पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं। आनन्द के सागर अपने

दिव्य प्रियतम को अपने सन्मुख देखने के कारण वे सदैव आनन्द में मस्त रहते हैं ।

उन्नत साधकों को दैवी अवस्था के कुछ विशेष अनुभव तो प्राप्त होते ही हैं; किन्तु साथ-ही-साथ उन्हें महान गुप्त शक्तियां तथा अलौकिक सिद्धियां भी उपलब्ध होती हैं । उन्हें प्राप्त होनेवाली शक्तियों की भिन्नता के अनुसार उनकी भिन्न भिन्न श्रेणियां होती हैं । उदाहरणार्थ, प्रथम भूमिका में स्थित रहने वाला साधक भी सूक्ष्म जगत् के नाना प्रकाश तथा वर्ण देखना आरम्भ कर देता है; सुन्दर सुरभि सूँघता है तथा मधुर संगीत सुनने लगता है । अधिक उन्नत साधक कितनी भी दूर की चीजें देख और सुन सकते हैं । कुछ बड़े हुए साधक मृत्यु के पश्चात् तुरन्त ही नया शरीर धारण कर सकते हैं । सिद्ध गुरुओं के कुछ नियुक्त कार्यकर्ताओं का स्थूल जगत् पर इतना अधिक अधिकार रहता है, कि वे इच्छानुसार अपने शरीर को बदल सकते हैं; ये लोग सूफी परंपरा के अनुसार 'अब्दल' कहलाते हैं । सिद्ध गुरुओं के कुछ नियुक्त कार्यकर्ताओं का स्थूल जगत् पर इतना अधिक अधिकार रहता है किन्तु साधकों की ये सारी सिद्धियां दृश्य जगत् से संबंध रखती हैं; उनकी शक्तियों का क्षेत्र भ्रममय भौतिक संसार होता है; और वे जो असाधारण चमत्कार दिखलाते हैं; उनका यह अर्थ नहीं कि वे किसी प्रकार ईश्वरावस्था के निकटतर हैं ।

चेतना की भिन्नता के दृष्टि कोण से भी साधकों की विभिन्न श्रेणियां होती हैं। ये श्रेणियां उनके साधन-पथ की विशिष्टता तथा ईश्वरावस्था से उनकी सन्निकटता पर निर्भर हैं। कुछ साधक अपनी असाधारण शक्तियों के कारण मदोन्मत्त हो जाते हैं, और उन शक्तियों का उपयोग करने के लोभ में फंस जाने की वजह उनकी ईश्वर की ओर उन्नति रुक जाती है। वे मध्यवर्ती भूमिकाओं की चेतना में दिमुग्ध हो जाते हैं। कुछ साधक चकाचौंध वाले, मूढ-मति तथा स्वयं-भ्रांत हो जाते हैं। कुछ साधक जडवत् अप्राकृतिक निद्रा से ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ साधक बार-बार कोई शारीरिक कार्य करके या बार-बार किसी वाक्य का उच्चारण करके, बड़ी मुश्किल से, स्थूल चेतना में उतरने की चेष्टा करते हैं। कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जो अपनी ईश्वरोन्मत्तता में ऐसे मस्त हो जाते हैं कि स्थूल जगत् तथा स्थूल-जगह के जीवन से वे बिलकुल उदासीन हो जाते हैं। उनके बाह्य आचरण बिलकुल पागलों जैसे होते हैं। कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अपने सांसारिक कर्तव्यों को करते हुए साधना-पथ पर बढ़ते चले जाते हैं।

चेतना की अति उत्कृष्ट अवस्था में स्थित होने के कारण, कुछ उन्नत साधक पूज्य होते हैं किन्तु ईश्वर-प्राप्त

पुरुषों से उनकी किसी प्रकार भी तुलना नहीं की जा सकती । न तो ईश्वरज्ञ-उन्मत्त अवस्था । पुरुषों-की सी आध्यात्मिक सुन्दरता या पूर्णता ही उन्हें प्राप्त होती और न ईश्वरज्ञ पुरुषों-की सी शक्तियां ही उन्हें उपलब्ध होतीं । चेतना की छठी भूमिका तक सभी साधकों की चेतना सीमित रहती है और वे द्वैत तथा द्वन्द की ही परिधि के अंतर्गत रहते हैं । साधक अधिकांशतः उल्लसित रहा करते हैं; उनका उल्लास ईश्वर-संपर्क तथा ईश्वर-संभाषण का परिणाम होता है । दिव्य प्रियतम से आंतरिक संगति प्राप्त होने के कारण कुछ साधकों का आनन्द इतना महान् होता है कि वे आपेसे बाहर होकर आचरण करने लगते हैं । अपनी अदम्य ईश्वरोन्मत्तता की अवस्था में वे लोगों को गाली देते, उनकी ओर पत्थर फेंकते तथा बिलकुल पिशाच की तरह व्यवहार करते हैं । यह अवस्था बहुधा उन्मत्त अवस्था के नाम से पुकारी जाती है । दिव्य प्रियतम से आंतरिक सम्पर्क प्राप्त होने के उन्मुक्त आनंदोद्रेक के असंयत अतिरेक के कारण वे सांसारिक मर्यादा तथा मूल्यों की पूर्ण अवहेलना करते हैं; तथा पूर्ण अनासक्ति से प्राप्त होने वाली अपनी नितांत निर्भीकता के कारण, वे जो कार्य और आचरण करते हैं, उन्हें लोग उद्धत, उच्छृंखल अथवा अमर्यादित स्वेच्छाचार समझने की भूल कर बैठते हैं । सातवीं भूमिका में पहुंचने पर जब ईश्वर की अनुभूति होती है तभी आत्मा अपने आनन्द पर पूर्ण अधिकार प्राप्त

करता है। उसका आनंद सदैव के लिये उसका हो जाता है। अद्वैत के समत्व में ही समत्व में उसकी नित्य स्थिति हो जाती है। जाने से, उसका आनंद उसे अस्थिर

नहीं करता। नये-नये प्राप्त होने वाले प्रेम और आनन्द का अतिरेक उसके लिये नहीं रह जाता; ईश्वर के अधिकाधिक सान्निध्य से उत्तरोत्तर वृद्धिमान आनंद के प्रचंड प्रवाह से प्रसंग-प्रसंग पर उत्पन्न होने वाली अस्थिरता का उसके लिये अन्त हो जाता है, क्योंकि वह ईश्वर से अविच्छेद्य एकता प्राप्त कर लेता है। वह दिव्य प्रियतम में खो जाता है तथा उसमें इतना लीन हो जाता है कि वह ईश्वर से एक हो जाता है; असीम आनन्द का वह अथाह-अनन्त पारावार हो जाता है।

ईश्वर-प्राप्त पुरुष का आनन्द आत्म-निर्भर तथा स्वयं-पूर्ण होता है। अतः उसमें हास और वृद्धि नहीं होती, वह सदा-सर्वदा एक ही स्थिति में रहता है। ईश्वर-प्राप्त पुरुष असंदिग्ध अन्तिम ज्ञान तथा अचल समता को प्राप्त हो जाता है। दिव्य प्रियतम के अधिकाधिक समीप आने तथा उससे अधिकाधिक सख्यत्व प्राप्त होने के कारण संतों के आनंद में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

किंतु उनका प्रियतम उनके लिये बहिर्भूत द्वितीय

(Externalised another) ही बना रहता है; किंतु ईश्वर-प्राप्त पुरुष का आनंद ईश्वरावस्था का ही अविभेद्य भाग होता है, जिसमें द्वैत नहीं रहता। इस अवस्था में प्रेमी तथा प्रियतम का सारा भेद मिट जाता है। संत का आनंद आश्रित होता है; किंतु ईश्वर-प्राप्त पुरुष का आनंद स्वयं-सिद्ध होता है। दिव्य अनुग्रह की प्राप्तिमें वृद्धि होने से संतों के आनन्द का अस्तित्व बढ़ता जाता है; किंतु ईश्वर-प्राप्त पुरुष के आनन्द का अस्तित्व न घटता है, न बढ़ता है, वह केवल ज्यों का त्यों रहता है।

ईश्वर की अनुभूति होने पर, मनुष्य को अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है; तथा सभी ईश्वर-प्राप्त पुरुषों के ये अंगीभूत लक्षण एकसे होते हैं। आंतरिक अवस्था में कोई मौलिक भेद न होते हुए भी, थोडासा बाहरी भेद जरूर होता है, जिसमें ईश्वर-प्राप्त पुरुष के कुछ विशिष्ट प्रकार हुआ करते हैं। ईश्वर-प्राप्त पुरुषों की भिन्नताएं पूर्णतः बाह्य होती हैं। उनके ईश्वर संबंध की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं होता। संसार के प्रति उनके सम्बन्ध भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, इसी कारण उनमें भिन्नताएं होती हैं। सत्य की दृष्टि से ये भिन्नताएं महत्व-शून्य हैं। इन बाह्य भिन्नताओं के कारण, ईश्वर-प्राप्त पुरुषों में

संसार के प्रति
संबंध में भिन्नता।

उच्चतर या निम्नतर आध्यात्मिक पद-भेद पैदा नहीं होता, क्योंकि वे सब समानतः पूर्ण होते हैं। वस्तुतः उनके बीच जो विभिन्नताएं दिखाई देती हैं उनका अस्तित्व एक बाह्य दर्शक के दृष्टि कोण से ही रहता है; ईश्वर-प्राप्त पुरुषों के दृष्टि कोण से उनमें कोई पारस्परिक अन्तर नहीं होता। वे सब केवल एक दूसरे से एक नहीं होते किन्तु सम्पूर्ण जीवन तथा सम्पूर्ण अस्तित्व से एक होते हैं।

तथापि सृष्टि के दृष्टि-कोण से, भिन्न प्रकार के ईश्वर प्राप्त पुरुषों के पारस्परिक अन्तर केवल सुनिश्चित ही नहीं किन्तु ध्यान देने योग्य हैं। ईश्वरानुभूति के पश्चात् कुछ आत्मा अपने शरीरों को त्याग देते हैं और ईश्वर-चेतना में नित्य निमग्न हो जाते हैं। उनके लिए केवल ईश्वर ही एक मात्र सत्य होता है तथा सारा संसार शून्य हो जाता है। सत्य के निराकार स्वरूपसे वे इतने पूर्णतः युक्त हो जाते हैं कि नामरूपात्मक साकार जगत् से उनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रह जाता।

कुछ ईश्वर-प्राप्त पुरुष अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों को कायम रखते हैं, किन्तु ईश्वर-चेतनामें पूर्णतः लीन रहने के कारण उन्हें अपने शरीर के अस्तित्वका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। संसार के अन्य

प्राणी उनके शरीर को देख सकते हैं और उन्हें अवतारी पुरुष समझते हैं, किंतु केवल दर्शक के दृष्टिकोणसे ही उनके शरीर का अस्तित्व रहता है। सूफी भाषा में ऐसे ईश्वर-प्राप्त पुरुष मजजुब कहे जाते हैं। मजजुब बोधपूर्वक अपने शरीर का उपयोग नहीं करते क्योंकि उनकी चेतना पूर्णतः ईश्वराभिमुख होती है। शरीर तथा संसार की ओर उनकी चेतना नहीं जाती। उनके लिये उनके स्वयं के शरीर तथा साकार जगत् का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अतः साकार जगत् में उनके शरीर के उपयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यद्यपि मजजुब चेतना-पूर्वक अपने शरीर का उपयोग नहीं करते तथापि उनके शरीर के केंद्र से अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, तथा अनन्त प्रेम का ज्योति-प्रवाह निरंतर स्वभावतः प्रसारित होता रहता है, तथा जो लोग उनके शरीर की आराधना करते हैं वे दिव्यता के इस सहज प्रभाव से महान आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करते हैं।

कुल ईश्वर-प्राप्त पुरुषों को ईश्वर-चेतना तो होती ही है किंतु उन्हें अन्य बद्ध आत्माओं के अस्तित्व का भी ज्ञान रहता है। किंतु इन जीवात्माओं को वे कल ईश्वर प्राप्त वस्तुतः परमात्माके ही रूप मानते हैं और पुरुष सृष्टि से वे यह भी जानते हैं कि उनका एक न रुचि नहीं एक दिन मुक्त होना या ईश्वरानुभूति रखते। प्राप्त करना निश्चित है। इस ज्ञान में आरूढ़ रहने के कारण बद्ध जीवात्माओं के परिवर्तनशील तथा अल्पकालस्थायी भाग्य के प्रति

वे उदासीन रहते हैं। ये ईश्वर-प्राप्त पुरुष जानते हैं कि जिस प्रकार उन्होंने स्वयं ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया है उसी प्रकार अन्य लोग भी कभी न कभी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करेंगे। बद्ध लोगों की ईश्वरानुभूति को द्रुत-गति से संपन्न करने की उन्हें शीघ्रता नहीं रहती; और सृष्टि के काल-क्रम में वे कोई सक्रिय रुचि नहीं लेते।

कुछ ईश्वर-प्राप्त पुरुषोंको न केवल ईश्वर-चेतना ही होती है किंतु सृष्टि की तथा अपने शरीर की भी चेतना होती है। वे

बद्ध जीवात्माओंमें सक्रिय सहायता रखते हैं; तथा दूसरे बद्ध आत्माओंको ईश्वरकी ओर उन्नति करने में सहायता पहुंचाने के लिए सृष्टि में कार्य करने के

लिये वे अपने स्वयम् के शरीर का ज्ञान-पूर्वक उपयोग करते हैं। ऐसा ईश्वर-प्राप्त आत्मा सालिक, सद्गुरु या ईश्वर-पुरुष कहा जाता है। सालिक या सद्गुरु समस्त सृष्टि का केंद्र होता है; और ऊंच-नीच, अच्छे-बुरे सभी प्राणी उससे समान दूरी पर रहते हैं। सूफी परंपरा के अनुसार यह केंद्र कुतुब कहलाता है। कुतुब अपने प्रतिनिधियोंका या नियुक्त कार्यकर्ताओं के द्वारा समस्त सृष्टि का संचालन करता है।

जो सद्गुरु, या ईश्वर-पुरुष विकास-क्रमसे सर्व प्रथम निकला तथा अन्य बद्ध जीवात्माओं की जिसने सहायता

की तथा जो सहायता करता है, वह अवतार कहा जाता है।

अवतार

साधारण सद्गुरु तथा अवतार में एक अंतर और भी है। जब सद्गुरु संसार के लिए कार्य नहीं करता तो उसका मन अनन्तकी ओर पुनः प्रवृत्त होता है; और संसारमें अवतरित होना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसे प्रसंगों पर, वह अपने मन को सांसारिक वस्तुओं तथा कार्यों की ओर प्रवृत्त होने के लिये बाध्य करता है। ऐसे अवसरों पर, कुछ सद्गुरु भोजन की इच्छा प्रकट करते हैं अपने बाल खींचते हैं या स्वयम् को थप्पड़ मारते हैं ताकि उन्हें शरीर-बोध रहे, अवतरित होने के लिए उन्हें कोई ऐसी शारीरिक क्रिया आवश्यक होती है। किंतु संसार-संबंधी किसी विशेष कार्य में न लगे रहने पर भी अवतार को अपनी सामान्य चेतना कायम रखने में कभी किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। अवतरण के लिये अवतारको शारीरिक क्रियाओंका आश्रय नहीं लेना पड़ता।

चेतना के मौलिक लक्षणों तथा सृष्टि में उसके द्वारा होने वाले कार्य के प्रकार के दृष्टि कोणसे अवतार अन्य सद्गुरुओं या ईश्वर-पुरुषों की ही तरह होता है। सान्त तथा सीमित मन न तो अवतार का होता है और न सद्गुरुका, क्योंकि अनन्त में मग्न होने के अनन्तर, उसका मन सार्व-लौकिक हो जाता है। सृष्टि-संबंधी सभी प्रकार के कार्यों

में लगे रहने परभी, सालिक या सद्गुरु, या ईश्वर-पुरुष तथा अवतार एक क्षण के लिए भी अपना ईश्वर-ज्ञान नहीं खोते, तथा जब दूसरे आत्माओं की सहायता करने की उनकी इच्छा होती है तब वे दोनों सार्वलौकिक मन के ही द्वारा कार्य करते हैं क्योंकि सार्वलौकिक मन उन्हीं का होता है।

ईश्वर पुरुष

(भाग २ रा)

ईश्वर पुरुषकी अवस्था

मनुष्य के जानने योग्य जितने विषय हैं उन सबमें ईश्वर अध्ययन सर्वश्रेष्ठ विषय है। किंतु ईश्वर के कोरे सैद्धान्तिक अध्ययन से ही साधक मानव जीवन की असली मंजिल के कोई बहुत नजदीक नहीं पहुंच जाता। यह सच है कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में कुछ भी न जानने की अपेक्षा ईश्वर का अध्ययन करना श्रेयस्कर होता है। बुद्धि के द्वारा ईश्वर की खोज करने वाला मनुष्य संशयवादी (Sceptic) या अज्ञेयवादी (agnostic) की अपेक्षा, सौ गुना अच्छा है। किंतु ईश्वर के बौद्धिक अध्ययन की अपेक्षा, ईश्वर को हृदयंगम (feel) करना निश्चयतः श्रेष्ठतर है, यद्यपि ईश्वर को हृदयंगम करना भी ईश्वर का अनुभव प्राप्त करने की अपेक्षा कम महत्व रखता है। किंतु ईश्वर को अनुभव करने से भी, दिव्यत्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अनुभव का विषय होने के कारण, ईश्वर साधक से भिन्न तथा साधक से बहिर्भूत

ही रहता है। ईश्वर की सत्ता में अपने आपको विलीन करने पर, जब ईश्वर से ऐक्य प्राप्त होता है, तभी साधक को ईश्वर के सत्त्वे स्वभाव का पूर्ण बोध होता है। इस भांति, ईश्वर संबंधी अज्ञान से ईश्वर-विषयक बौद्धिक ज्ञान श्रेष्ठतर है; ईश्वर का बौद्धिक अध्ययन करने की अपेक्षा ईश्वर को हृदयंगम करना श्रेष्ठतर; ईश्वर को हृदयंगम करने की अपेक्षा ईश्वर का अनुभव करना श्रेष्ठतर है और ईश्वरका अनुभव करने की अपेक्षा ईश्वर बन जाना श्रेष्ठतर है।

ईश्वर प्राप्ति या ईश्वरानुभूति की अवस्था उन विभिन्न शंका संदेहों से विमुक्त होती है जिनसे बद्ध मनुष्यों का मन आक्रांत रहा करता है। जो मनुष्य बद्ध हैं, वे कहां से आये हैं और कहां तक जायेंगे, इस संबंध में वे निरंतर अज्ञान तथा संशयात्मक रहते हैं। किंतु इसके विपरीत ईश्वर-वेत्ता मनुष्य मानो सृष्टि के उस केंद्र में है, जहां सृष्टि के आदि और अंत का ज्ञान उत्पन्न होता है। ईश्वरानुभूत पुरुष अपने को ईश्वर जानता है जिस प्रकार मनुष्य निश्चय पूर्वक यह जानता है कि वह मनुष्य है न कि कुत्ता, उसी प्रकार ईश्वरवेत्ता पुरुष यह निश्चयपूर्वक जानता है कि वह ईश्वर है। उसका यह ज्ञान कि वह ईश्वर है, कोई संदिग्ध विषय, कोई राय, आत्म विभ्रम, कल्पना

निश्चयात्मक
ज्ञान।

या अनुमान नहीं है। वह उसके लिये ध्रुव तथा निश्चल सत्य है। उसे किसी बाह्य अनुमोदन या समर्थन की जरा भी आवश्यकता नहीं रहती। यह ज्ञान निरंतर आत्म-ज्ञान पर निर्भर रहता है। औरों के खंडन से वह जरा भी प्रभावित नहीं होता। ईश्वर-पुरुष को अपने ईश्वरत्व का इतना निश्चयात्मक ज्ञान रहता है कि किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के द्वारा वह चुनौती देने योग्य नहीं रह जाता। ऐसा पुरुष अपने को ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ समझ ही नहीं सकता, ठीक उसी तरह, जैसे साधारण मनुष्य अपने को मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता। किंतु मनुष्य अपने आपको वह समझता है जो वह यथार्थ में नहीं है तथा ईश्वरवेत्ता अपने को वही समझता जो यथार्थ में है।

ईश्वरानुभूति सारी सृष्टि का एकमात्र लक्ष्य है। महान् से महान् भौतिक सुख ईश्वरानुभूति के अनन्त आनन्द की एक क्षणभंगुर प्रतिच्छाया है। व्यापक से व्यापक समस्त सांसारिक ज्ञान ईश्वरानुभूति के अमर सत्य का एक विकृत प्रतिबिम्ब है। भव्य से भव्य समग्र मानवीय बल ईश्वरानुभूति की निःसीम शक्ति का केवल एक अंश है। पृथ्वी में जो कुछ भी श्रेष्ठ, सुंदर आकर्षक है तथा जो कुछ भी महान्, पवित्र तथा उत्साह-जनक है वह सब ईश्वरानुभूति के अक्षय तथा अकथनीय गौरव का ही एक अत्यंत सूक्ष्म भाग है।

ईश्वरानुभूति का
गौरव।

ईश्वरानुभूति का अनंत आनंद, अद्वितीय सत्य, असीम शक्ति तथा अक्षर महात्म्य बिना किसी मोल के ही प्राप्त नहीं किया जा सकता। सृष्टि के गर्भ में प्रचलन्न इस अक्षय निधि को प्राप्त करने के पूर्व जीवात्मा अर्थात् वैयक्तिक आत्मा को विकास-क्रम तथा जन्म परंपरा की सारी द्वंद्व-वेदनाएं तथा प्रसव-यंत्रणायें अनुभव करनी पड़ती हैं, और इस निधि का अधिकार प्राप्त करने के लिये उसे अपने पृथक् आहंकारिक अस्तित्व की कीमत चुकाना पड़ती है। ऐश्वर्य की असीम अवस्था में प्रवेश तभी संभव है जब सीमित व्यक्तित्व का पूर्ण लोप हो जाय। यह पृथक् व्यक्तित्व अर्थात् अहंकार-मूलक अस्तित्व सीमित नाम-रूप से युक्त और आसक्त होकर प्राधान्य को प्राप्त हो जाता है, तथा अंतर्भूत ईश्वर पर अज्ञान का परदा डाल देता है। जब उसका निःशेष नाश हो जाता है तथा उसके सीमित व्यष्टि जीवन का लेशमात्र अंश अवाशिष्ट नहीं रह जाता, तब केवल ईश्वर ही शेष रह जाता है। सीमित अस्तित्व का विसर्जन पृथक् सत्ता के दृढ़मूल भ्रम का विसर्जन है। सीमित अस्तित्व का परित्याग किसी सत्य का परित्याग नहीं है : वह असत्य का परित्याग तथा सत्य की उपलब्धि है।

ज्यों ज्यों मनुष्य आंतरिक भूमिकाओं का आतिक्रमण करता जाता है, तथा ईश्वरानुभूति की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों वह क्रम-क्रम से स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक संसार एवं अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर के प्रति अचेतन होता जाता है। किंतु ईश्वरानुभूति के पश्चात्, कतिपय आत्मा अवतरित होते अर्थात् नीचे उतरते हैं तथा समस्त सृष्टि एवं अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर से चेतन होते हैं। इस अवरोहण तथा अवतरण से उनकी ईश्वर-चेतना में कोई विकार नहीं आता। ऐसे पुरुष ईश्वर-पुरुष कहलाते हैं। ईश्वर, स्वयमेव ईश्वर की हैसियत से, चेतना-पूर्वक मनुष्य नहीं होता, तथा मनुष्य की हैसियत से, चेतना-पूर्वक ईश्वर नहीं होता। किंतु ईश्वर-पुरुष चेतना-पूर्वक ईश्वर भी होता है तथा मनुष्य भी होता है।

सृष्टि की चेतना प्राप्त करके भी, ईश्वर-पुरुष की ईश्वर-चेतना में लेश मात्र भी विकार या अंतर नहीं आता। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सृष्टि की चेतना स्वयमेव किसी भी प्रकार ईश्वर-पुरुष सृष्टि प्रपंच में नहीं घातक फँसता। घातक नहीं है; घातक है संस्कारों के कारण चेतना का सृष्टि-प्रपंच में फँस जाना। चेतना जब सृष्टि से

इस प्रकार आसक्त हो जाती है तो वह परिणामतः अज्ञान से आच्छादित हो जाती है। उसके अज्ञानाच्छन्न हो जाने के कारण आभ्यंतर दिव्यत्व का उसे ज्ञान नहीं हो पाता। इसी भाँति आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शरीर की चेतना स्वयमेव घातक नहीं है; घातक है संस्कारों के कारण चेतना का शरीर से आसक्त हो जाना तथा उससे तादात्म्य अनुभव करना। इस आसक्ति के फल-स्वरूप उस परमात्मा की अनुभूति नहीं हो पाती जो एकमात्र अद्वितीय सत्य है, जो सकल सृष्टि का आधार है तथा जो समूचे सृष्टि-प्रपंच का सार-गर्भित रहस्य है और जिस परमात्मा के ज्ञान से ही सृष्टि का यथार्थ मर्म जाना जा सकता है।

जीवात्मा संस्कारों की शृंखला के द्वारा रूपों की दुनिया से बँध जाता है। संस्कार भ्रम पैदा करते हैं; और भ्रम के कारण आत्मा अपने को शरीर से युक्त कर लेता है; अर्थात् अपने को शरीर समझने लगता है। चेतना की आंतरिक अशांति तथा इच्छा की विकृति केवल शरीर की चेतना के कारण उत्पन्न नहीं होती हैं; किंतु चेतना की शरीर से सांस्कारिक आसक्ति हो जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। किंतु ईश्वर-पुरुष सारे संस्कारों से मुक्त रहता है; अतः वह निरंतर अपने को अपने शरीर से भिन्न समझता है। वह पवित्र दिव्य इच्छा अभिव्यक्ति के लिये, अपने शरीर का उपयोग साधनों के बतौर उनसे अनासक्त

होकर शांति-पूर्वक करता है। जिस प्रकार गंजे मनुष्य के लिये उसका कृत्रिम केश होता है, उसी प्रकार ईश्वर-पुरुष के लिये उसके शरीर होते हैं। गंजा दिन को जब काम पर जाता है, तब अपना कृत्रिम केश लगा लेता है, और शाम को वापिस लौटने पर, उसे उतार कर रख देता है। इसी तरह, ईश्वर-पुरुष को अपने कार्य के लिये, जब शरीर की आवश्यकता होती है, तब वह उनका उपयोग करता है; किंतु जब उसे उनकी आवश्यकता नहीं रहती, तब वह उनसे मुक्त रहता है, तथा उन्हें अपने ऐश्वर्य के यथार्थ व्यक्तित्व से बिलकुल भिन्न मानता है।

ईश्वर-पुरुष अपने को अनन्त जानता है। वह अपने को समस्त रूपों से परे जानता है। अतः वह पूर्ण अनासक्ति-पूर्वक सृष्टि में बिना फँसे, सृष्टि से चेतन हो सकता है। ईश्वर-चेतना ईश्वर की परिवर्तनशील दृश्यजगत का मिथ्यात्व उसे ठीक से नहीं छाया से प्रभावित समझने में सन्निहित है। उसे ठीक से नहीं नहीं होती। समझने का अर्थ है, उसे अनन्त आत्मा की भ्रामक अभिव्यक्ति नहीं समझना। अज्ञान, रूप को ही स्वयमेव पूर्ण समझने में सन्निहित है। वस्तुतः, रूप अनन्त आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। ईश्वर-पुरुष-को सत्य का ज्ञान हो जाता है। उसे ईश्वर के यथार्थ स्वभाव तथा सृष्टि के वास्तविक स्वरूप का सूत्रा बोध हो जाता है किंतु उसके इस बोध में द्वैत-भाव

नहा रह जाता क्योंकि सृष्टि का पृथक अस्तित्व उसके लिये नहीं रह जाता। उसके लिये केवल ईश्वर का ही अनन्त तथा वास्तविक अस्तित्व रहता है। वह ईश्वर को ही सृष्टि का मर्म समझता है तथा सृष्टि को वह ईश्वर की परिवर्तनशील छाया समझता है। अतः ईश्वर-पुरुष के, सृष्टि से चेतन होने पर भी, उसकी ईश्वर-चेतना में कोई भिन्नता नहीं आती। वह नाम-रूप-मय संसार में, सृष्टि के प्रारंभिक प्रयोजन की पूर्ति के लिये, निरंतर कार्य-निरत रहता है; और सृष्टि का प्रारंभिक प्रयोजन प्रत्येक आत्मा में पूर्ण आत्म-ज्ञान या ईश्वरानुभूति उत्पन्न करना होता है।

ईश्वर की निराकार अवस्था से ईश्वर-पुरुष जब रूपों के साकार संसार में अवतरित होता है, तो उसे सर्वगत (universal mind) की प्राप्ति होती है। वह इस समष्टि मेंत्र के ही द्वारा जानता, अनुभव करता, तथा कार्य करता है; शान्त मन का सीमित जीवन उसके लिये समाप्त हो जाता है; द्वैत के सुख-दुख उसके लिये नहीं रह जाते; पृथक अहंकार का मिथ्या दंभ तथा उसकी विफलता उसके लिये नहीं रह जाती। वह समूचे जीवन से ज्ञानतः एक होता है। सार्वलौकिक मन के द्वारा वह समस्त मनो का केवल सुख ही अनुभव नहीं करता

ईश्वर-पुरुष सर्वगत
समष्टि मन के
द्वारा कार्य
करता है।

किंतु समस्त मनों का दुःख भी अनुभव करता है; और चूँकि, अज्ञान के कारण, अनेक मनुष्य सुख की अपेक्षा अधिक दुःख भोगते हैं, अतः दूसरों के दुःख के कारण ईश्वर-पुरुष को जो दुःख अनुभव होता है वह सुख से अनन्त गुना अधिक होता है। बद्ध मनों की पीड़ा से ईश्वर पुरुष को जो पीड़ा होती है, वह अत्यंत महान् होती है। किंतु ईश्वरावस्था के जिस अनन्त आनन्द का वह निरंतर तथा अनायास आस्वादन करता है वह यंत्रणा को सहन करने में सहायक होता है। परिणामतः ईश्वर-पुरुष यंत्रणा से अलिप्त तथा अविचलित रहता है।

बद्ध जीवात्मा ईश्वरावस्था के अनन्त आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता, और सीमित मनसे अज्ञान-पूर्वक युक्त होकर वह अपने संस्कार-जन्य सुख-दुःखों से अत्यंत उद्विग्न तथा अस्थिर होता रहता है। किंतु ईश्वर-पुरुष का संसार में अपना अवतार कार्य समाप्त करके ईश्वर-पुरुष अपना विश्व-व्यापी मन त्याग देता है।

जब अवतरण होता है तब उसे जो सार्व-लौकिक समष्टि-मन प्राप्त होता है वह उस मन से भी युक्त नहीं होता। वह संसार में अपना धर्म-कार्य करने के लिये ही सार्वलौकिक मन को धारण करता है; और चूँकि बिना उससे तादात्म्य अनुभव किये, केवल अपने कार्य के लिये वह उसका उपयोग करता है, अतः उस सार्वलौकिक मन के द्वारा जिस हर्ष-शोक का उसे अनुभव होता है, वह उससे अप्रभावित तथा अनासक्त रहता है। उसका कार्य

पूरा होते ही, वह सार्वलौकिक समष्टि-मन का परित्याग कर देता है; किंतु सार्वलौकिक मन के द्वारा संसार में कार्य करते समय भी, वह अपने को अनन्त तथा अद्वितीय ईश्वर ही समझता है, न कि सार्वलौकिक मन ।

ईश्वर-पुरुष की ईश्वर से जो एकता होती है वह पूर्ण होती है; और यद्यपि वह द्वैत के जगत में अपना सार्वलौकिक कार्य करने के लिये उतरता है, वह ईश्वर से एक क्षण के लिये भी वियुक्त नहीं होता । ईश्वर-पुरुष पीडा से प्रभावित नहीं होता । अपनी मनुष्य सदृश सामान्य अवस्था में, उसे समस्त मनुष्यों की सतह पर रहना पड़ता है तथा औरों की तरह खाना-पीना तथा दुःखी होना पड़ता है; किंतु चूंकि ये सब कार्य करते हुए भी वह अपने ऐश्वर्य का अनुभव करता रहता है, अतः उसे शांति, आनन्द तथा शक्ति की सदैव अनुभूति होती रहती है । उदाहरणार्थ, ईसा को सूली की यंत्रणा का अवश्य अनुभव हुआ; किंतु वह इस यंत्रणा से जरा भी प्रभावित नहीं हुआ, क्योंकि अपने चेतन ऐश्वर्य के निरंतर ज्ञान के कारण, वह यह जानता था कि द्वैत की दुनिया की प्रत्येक वस्तु भ्रम है । ईसा की यंत्रणा को उसके ईश्वरैक्य के आनंद का आधार प्राप्त था ।

ईश्वर की हैसियत से ईश्वर-पुरुष सभी आत्माओं को अपना ही आत्मा समझता है; वह सभी वस्तुओं

में अपना दर्शन करता है और सार्व लौकिक मन के विस्तार के भीतर उसके समस्त मन समाविष्ट रहते हैं। ईश्वर-पुरुष समस्त बद्ध जीवात्माओं से अपने को एक समझता है। यद्यपि वह अपने को ईश्वर समझता है और वह इस प्रकार निरंतर मुक्त रहता है, तथापि वह अपने को अन्य बद्ध जीवात्माओं से भी एक समझता है और इस भांति वह प्रति निधि के नाते बद्ध रहता है और, यद्यपि वह ईश्वरानुभूति के अनंत आनन्द का निरंतर अनुभव करता रहता है तथापि वह साथ ही साथ उन अन्य बद्ध जीवात्माओं के प्रति-निधि की हैसियत से पीड़ा का भी अनुभव करता है जिन्हें वह अपना रूप समझता है। ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने का यही अर्थ है। ईश्वर पुरुष मानों निरंतर सूली पर चढ़ाया जाता है; और वह निरंतर जन्म लेता रहता है। ईश्वर-पुरुष में सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ण रूप से सिद्धि हो चुकी रहती है, और संसार में रह कर उसे अपने लिये कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। तो भी वह अपने शरीर को बनाये रखता है तथा बद्ध जीवात्माओं का उद्धार करने के लिये तथा ईश्वर प्राप्ति में उनकी सहायता करने के लिये वह उन शरीरों का उपयोग करता है।

द्वैत जगत् में कार्य करते समय भी, ईश्वर पुरुष किसी भी प्रकार द्वैत से सीमित नहीं होता। उसकी ईश्वरावस्था में,

‘मै’ और ‘तुम’ का द्वैत, सर्व व्यापी देवी प्रेम के समुद्र में विलीन हो जाता है। जिस पूर्णावस्था द्वैत के मध्य में ईश्वर-पुरुष निवास करता है, वह अद्वैत। द्वैत क समस्त रूपों तथा द्वन्द्व की सकल सीमाओं से परे रहती है। वह असीम स्वतंत्रता, अविच्छिन्न संपूर्णता, अनश्वर मधुरता, अमर आनंद, निर्मल दिव्यता, तथा अनिरुद्ध निर्मायकता (Creativity) की अवस्था है। ईश्वर-पुरुष ईश्वर से सदैव के लिये अभिन्नतः युक्त रहता है। तथा वह द्वैत के मध्य में ही अद्वैत की अवस्था में निरंतर निवास करता है; और वह न केवल अपने को सभी से एक समझता है, किन्तु अपने को अद्वितीय भी समझता है। वह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वस्तु न देखने की अवस्था से प्रत्येक वस्तु में ईश्वर देखने की अवस्था में अवतरित होता है। अतएव कहना न होगा कि उसके संसारिक कार्य उसे बांध नहीं सकते। इसके विपरीत, उसके संसारिक कार्य एकमात्र सत्य स्वरूप ईश्वर के अमर गौरवश्री को प्रतिबिंबित करते हैं; तथा बन्धनों में बँधे हुए अन्य व्यक्तियों को मुक्त करने में वे सहायक होते हैं।

वे आत्मा जिन्हें ईश्वर की अनुभूति प्राप्त नहीं हुई है; द्वैत की ही सीमा के भीतर रहते हैं; और विभिन्न क्षेत्रों में अनेक पारस्परिक लेन-देन के कार्यों के परिणाम स्वरूप, वे अपने लिये ऐसे स्वतंत्र तत्त्वों की बंधन-शून्य लेन देन। कर्मजन्य कर्जा या पावना की बन्धनों की सृष्टि करते हैं, जिनसे छुटकारा पाने में वे असमर्थ हो जाते हैं। उनके पारस्परिक संबंधों का फल यह होता है कि या तो वे किसी के ऋणी-ग्रस्त या बद्ध हो जाते हैं या कोई दूसरा उनका ऋणी या बद्ध हो जाता है। किन्तु ईश्वर-पुरुष अद्वैत या एकताके ज्ञान में निवास करता है; और उसके कार्यों का उसके लिये बंधन कारक होना तो दूर रहा, किंतु उसके कार्य बद्ध मनुष्यों के लिए मुक्ति कारक होते हैं। ऐसा एक भी प्राणी नहीं होता, जो ईश्वर-पुरुष की सत्ता के अंतर्गत नहीं होता। वह सभी में अपने आप को देखता है; और चूँकि उसके समस्त कार्य उसकी अद्वैत की चेतना से स्फुरित होते हैं अतः वह स्वतंत्रता पूर्व दे सकता है; और स्वतंत्रता-पूर्वक ले सकता है। किसी को देकर, उस अपना ऋणी नहीं बनाता, न किसी से लेकर, व उसका ऋणी बनता है। उसके कार्य, उसके लिए तथा अन्य मनुष्यों के लिये, बंधन कारक नहीं होते।

ईश्वर-पुरुष सब पर समान रूप से अनुग्रह की वर्षा करता है। यदि कोई मनुष्य, निष्कपट भाव से, ईश्वर पुरुष का मुक्तहस्त अनुग्रह स्वीकार करता है, तो वह ईश्वर-पुरुष का सम्पर्क सभी लोगों से ऐसा संबंध स्थापित करता है, जो के लिये कल्याण-उसकी ईश्वर-प्राप्ति तक कायम रहता है। कारी होता है। और यदि कोई मनुष्य जीवन तथा स्वकीय सर्वस्व समर्पित करके, ईश्वर-पुरुष की सेवा करता है, तो वह उससे ऐसा संबंध स्थापित करता है, जो ईश्वर-पुरुष की अनुकम्पा तथा सहायता को उसकी ओर आमंत्रित करता है, तथा फलतः उसकी आध्यात्मिक उन्नति की वृद्धि करता है। यदि कोई मनुष्य ईश्वर-पुरुष के कार्य का विरोध करता है, तो मानो वह भी विरोध के द्वारा ऐसा संबंध या सम्पर्क स्थापित करता है, जो यथार्थ में अप्रत्यक्ष रूप से, उसे ईश्वर की ओर बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, जो इच्छा से या अनिच्छा से उसके कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करता है, किसी न किसी प्रकार से आध्यात्मिक उन्नति करता है।

धार्मिक पुरोहित जिस प्रकार के कार्य करने में लगे रहते हैं, वैसे कार्यों से ईश्वर पुरुष का धर्म-कार्य मूलतः

भिन्न होता है। परंपरागत रूढ़ धर्मावलंबी अधिकांश पुरोहित बाह्य रूप लोकाचार, तथा विधिनिषेधों को आवश्यकता से अधिक महत्व देते हैं; और चूंकि वे स्वयं स्वार्थ-परता, संकीर्णता तथा अज्ञान से युक्त नहीं होते, अतः वे नरक तथा स्वर्ग की आशा दिलाकर, दुर्बल तथा विश्वासी व्यक्तियों का अनुचित शोषण करते हैं। इसके विपरीत, ईश्वर-पुरुष, सदा सर्वदा के लिये, प्रेम, पवित्रता, सार्वलौकिकता तथा ज्ञान के अनंत जीवन में सदैव के लिये प्राविष्ट हो चुका रहता है; अतः वह केवल आध्यात्मिक महत्व की ही बातों से संबंध रखता है; और अंतर्भूत आत्मा को प्रगट करने के लक्ष्य को ही, ध्यान में रख कर, वह मनुष्यों की सहायता करता है। स्वयं अज्ञान में फँसे रहने वाले मनुष्य, आत्म-विभ्रान्ति (self delusion) या बुद्धिपुरस्सर स्वार्थ-परता के कारण, ईश्वर-पुरुष की ही भाषा का भले ही उपयोग करें, तथा उसकी वेश-भूषा और उसके बाह्य आचरण का अनुकरण भले ही करें; किन्तु अज्ञान में फँसे रहने के कारण, वे पूर्ण ज्ञान से युक्त होने, अनंत आनंद का अनुभव करने, असीम शक्ति के संचालक होने, आदि बातों में ईश्वर-पुरुष की नकल कदापि नहीं कर सकते। ये गुण तो ईश्वर-पुरुष को ईश्वर से युक्त होने के कारण प्राप्त हुए हैं।

अज्ञानी पुरुषों में ईश्वर-पुरुषों के दिव्य गुणों का अभाव रहेगा ही। किन्तु यदि वे आत्म-विभ्रान्ति या पाखंड के कारण उच्च वेष धारण कर ईश्वर-पुरुष होने का ढोंग करें तो उनकी भ्रान्ति तथा ढोंग का कभी न कभी भंडाफोड़ हुए बगैर न रहेगा। आत्म-विभ्रान्ति के कारण यदि कोई-मनुष्य किसी जीवन-क्रम का आचरण करता है, तो वह अभागा अपने को वह समझता है जो वह यथार्थ में नहीं है। कुछ भी न जानने पर वह समझता है कि वह सब कुछ जानता है; किन्तु भ्रम वश वह जो कुछ भी सोचता या करता है, सचाई पूर्वक वैसा सोचता या करता है। वह बेचारा भ्रान्त मनुष्य निर्दोष है यद्यपि वह कुछ हद तक दूसरों को हानि पहुँचा सकता है। किन्तु कपटवेशी पाखंडी जानता है कि वह वस्तुतः कुछ भी नहीं जानता तथा स्वार्थ युक्त कारणों से वह वास्तव में जैसा नहीं है वैसा बनने का ढोंग रचता है; किन्तु इस दंभाचरण के द्वारा वह अपने लिये घातक कर्म-बंधन उत्पन्न करता है। यद्यपि वह दुर्बल तथा विश्वासी व्यक्तियों के लिये यथेष्ट घातक सिद्ध होता है, किन्तु वह सदैव लोगों की आंखों में धूल झाँककर अपना उल्लू सीधा करने में सफल नहीं हो सकता। समय आने पर आप ही आप पोल खुल जाती है। ईश्वर-पुरुष बनने के उसके झूठे दावे का भंडा फोड़ हो जाता है, क्योंकि वह इस दावे को सिद्ध नहीं कर सकता।

अपने सार्वलौकिक कार्य की सिद्धि के लिये ईश्वर-पुरुष में परिस्थिति तथा पात्र के अनुसार आचरण करने की अनंत व्यवस्थापन क्षमता होती है।

सिद्ध ईश्वर-पुरुष दूसरों की सहायता करने के लिये वह साधक सद्गुरु किसी एक प्रणाली पर आसक्त नहीं रहता; वह परंपरागत विधि निषेधों का अंधानुकरण नहीं करता। वह स्वयमेव

सर्वोपरि नियम होता है। वह उपस्थित अवसर के अनुसार, आचरण कर सकता है; तथा प्रस्तुत परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार, अभिनय कर सकता है। किंतु वह किसी परिस्थिति से बंधता नहीं है। एक बार एक भक्त ने अपने गुरु से उनके उपवास करने का कारण पूछा। गुरु ने उत्तर दिया,—‘मैं पूर्णता की प्राप्ति के लिये उपवास नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि पूर्णता तो मुझे पहिले ही प्राप्त हो चुकी है; और मैं साधक नहीं हूँ। मैं औरों के लिये उपवास करता हूँ।’ एक आध्यात्मिक साधक सिद्ध पुरुष की तरह व्यवहार नहीं कर सकता क्योंकि सिद्ध पुरुष की सिद्धावस्था का अनुकरण करना साधक के लिये असंभव है किंतु सिद्ध पुरुष औरों के कल्याण तथा पथ प्रदर्शन के लिये साधक के समान बर्ताव कर सकता है। विश्व-विद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा जिसने पास कर ली है, वह बच्चों को सिखाने के लिये वर्णमाला के अक्षरों को बिना किसी कठिनाई के लिख सकता है। जो कार्य वह कर सकता

है, वही कार्य बच्चे नहीं कर सकते। ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग औरों को दिखलाने के लिये, ईश्वर-पुरुष बहुधा-भक्त की भांति आचरण कर सकता है, यद्यपि उसने ईश्वर से पूर्ण एकता प्राप्त कर ली है। ईश्वरानुभूति के पश्चात् भी वह औरों के पथ-प्रदर्शन के हेतु एक भक्तवत् अभिनय करता है। वह किसी एक प्रकार के आचरण से बंधा नहीं रहता। वह अपनी शिक्षा पद्धति को सहायता-इच्छुक व्यक्तियों तथा-पथ-प्रदर्शनार्थी जनों की आवश्यकता के अनुसार, परिवर्तित कर सकता है। और अपने खुद के लिये प्राप्तव्य एक भी वस्तु उसके लिये बाकी नहीं रहती; अतः जो कुछ भी वह करता है, वह औरों की आध्यात्मिक भलाई के लिये ही करता है।

औरों की आध्यात्मिक सहायता करने के लिये, ईश्वर-पुरुष किसी एक प्रकार की शिक्षा-पद्धति का आवश्यक-रूप से कायल तो रहता ही नहीं; साथ ही वह माया को नष्ट साथ वह अच्छाई संबंधी परंपरागत करने के लिये माया माप-दंड से भी बद्ध नहीं रहता। काही उपयोग अच्छाई और बुराई के भेद भाव से वह करता है। परे रहता है। किन्तु यद्यपि उसके कार्य संसार की आखाँ में नियम-शून्य से दिखाई पड़ते हैं तथापि वे औरों के आध्यात्मिक हित संवर्धन के ही लिये होते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिये वह भिन्न-भिन्न तरीकों का उपयोग करता है। उसका कोई

अपना स्वार्थ या निजी मतलब तो रहता ही नहीं और उसके समस्त कार्य सर्वदा परमार्थ परायण करुणा से प्रेरित होते हैं, अतः अपने कार्यों से वह अनासक्त रहता है। अपने शिष्यों को माया से निकालने के लिये वह माया का ही उपयोग करता है तथा अपने आध्यात्मिक कार्य को पूर्ण करने के लिये वह अनंत उपायों से काम लेता है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिये उसके उपाय भिन्न-भिन्न होते हैं तथा एक मनुष्य के लिये उसका उपाय सब समय एक-सा नहीं हुआ करता। कभी कभी वह ऐसा भी कार्य करता है जिसे देखकर लोग दंग रह जाते हैं; क्योंकि उसका वह कार्य उनकी सामान्य अपेक्षाओं के विपरीत होता है। वे नहीं समझ पाते कि उसका कार्य किसी आध्यात्मिक लक्ष्य सिद्धि के लिये किया गया है। एक लम्बे सुंदर सपने से किसी मनुष्य को जगाने के लिये एक छोटे उद्वेग पर आकस्मिक स्वप्न का व्याघात बहुधा उपयोगी हुआ करता है। उद्वेगकर आकस्मिक स्वप्न की ही नाई ईश्वर-पुरुष जान बूझकर किसी व्यक्ति को उद्वेगकर आघात पहुंचाता है। तथा जिस प्रकार एक छोटे उद्वेगकर स्वप्न से मनुष्य का दीर्घ कालीन स्वप्न भंग हो जाता है उसी प्रकार किसी छोटीसी घटना के आघात से मनुष्य माया की दीर्घ कालीन नींद से जाग पड़ता है। घटने के समय वह घटना अभ्रिय मात्स्य होती है किन्तु उसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

ईश्वर-पुरुष कुछ मनुष्यों के साथ अनुचित रीति से कठोर वर्ताव करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु बाह्य दर्शकों को आंतरिक वस्तु स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। अतः उसकी ऊपरी कठोरता डूबते हुए मनुष्य के यथार्थ औचित्य को वे ठीक ठीक समझ नहीं पाते, किंतु सच पूछा जाय तो उपस्थित परिस्थिति की मांग के अनुसार उसकी निष्ठुरता एक अनिवार्य आवश्यकता होती है तथा जिसके प्रति कठोर वर्ताव किया जाता है उसके लिये परम हितकर सिद्ध होती है। ऐसे निष्ठुर कार्य का एक सुंदर तथा स्पष्ट सादृश्य उन कुशल तैरने वालों के दृष्टांत में मिलता है जो डूबते हुये मनुष्य के रक्षण के लिये बुद्धिमत्ता-पूर्वक निष्ठुर कार्य करते हैं। यह तो सभी को मालूम है कि जब मनुष्य पानी में डूबने लगता है तो वह जो भी वस्तु मिले उसे पकड़ लेना चाहता है। डूबता हुआ मनुष्य डर तथा किंकर्तव्यविमूढता के कारण अपने रक्षक को ऐसे अनुचित ढंग से पकड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप अपने साथ अपने बचाने वाले को भी डुवा ले जा सकता है। डूबने वाला मनुष्य अपने बचाने वाले को जिस ढंग से पकड़ता है उससे उसको बचाना असंभव हो जाता है। अतः डूबते मनुष्य के बचाने वाले को बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। जो मनुष्य डूबते मनुष्य को डूबने से बचाने की कला में निपुण होता है वह बहुधा उस मनुष्य के सिर पर आघात करके उसे मूर्छित कर देता है ताकि वह उसे

रही ढंग से न पकड़े। इस ऊपरी कठोरता के द्वारा वह डूबने वाले मनुष्य पर आये हुये संकट को कम कर देता है और सफलता पूर्वक उसकी सहायता करके उसे डूबने से बचा लेता है। ठीक इसी प्रकार औरों के आध्यात्मिक हित को ध्यान में रखकर ही ईश्वर पुरुष किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों के प्रति कठोरता का बर्ताव करता है।

जीवात्मा संसार में फँस जाता है; और संसार कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। चूँकि कल्पना का कहीं अंत नहीं है; अतः जीवात्मा अनिश्चित काल तक मिथ्या चेतना के गहन मार्ग में भटकता रह सकता है। किंतु ईश्वर-पुरुष सत्य का दर्शन कराके, मिथ्या चेतना की विभिन्न स्थितियों का शीघ्रातिशीघ्र अतिक्रमण करा सकता है; और उन्हें पार करने में लगने वाले समय को अत्यंत संक्षिप्त कर सकता है। जब मन सत्य का दर्शन नहीं करता है तो वह तरह-तरह की कल्पनाएँ करता रहता है। जैसे, कोई आत्मा कल्पना करता है कि वह भिक्षुक है, कोई कल्पना करता है कि वह राजा है, कोई कल्पना करता है कि वह पुरुष है या स्त्री है-इत्यादि।

इस प्रकार जीवात्मा द्वन्द्वात्मक अनुभव राशि का संचय करता चला जाता है। जहां भी द्वैत है, वहीं द्वन्द्व के द्वारा समता स्थापित करने की प्रवृत्ति होगी। जैसे, यदि कोई मनुष्य हत्या करके हत्यारा होने का अनुभव करता है तो वह द्वन्द्व के एक भाग का ही अनुभव करता है। अतः अपने अधूरे अनुभव की पूर्ति के लिये किसी दूसरे के द्वारा स्वयं हत्या किये जाने का उसे अनुभव करना पड़ता है। इसी प्रकार जीवात्मा को यदि राजा बनने का अनुभव होता है, तो वह भिखारी बनने के अनुभव के द्वारा उस अनुभव की पूर्ति करता है। इस प्रकार, जीवात्मा अनंत काल तक द्वंद्वों के बीच भटकता रहता है, तथा अपनी मिथ्या चेतना को अन्त करने में अपने को असमर्थ पाता है। ईश्वर-पुरुष उसे सत्यदर्शन कराके सत्य प्राप्ति में उसकी सहायता कर सकता है। ईश्वर-पुरुष उसकी कल्पना की क्रिया को संक्षिप्त कर देता है। यदि वह ऐसा न करे, तो जीवात्मा की मिथ्या कल्पना कहीं समाप्त नहीं होती। ईश्वर-पुरुष बद्ध जीवात्मा के अंतःकरण में ईश्वरानुभूति का बीज बोकर, उसकी सहायता करता है। किंतु ईश्वरानुभूति की प्राप्ति करने के लिये हमेशा कुछ समय लगता है। संसार में, विकास के किसी भी क्रम के लिये, समय की आवश्यकता होती है।

उन्नत साधक भी कुछ सहायता कर सकते हैं; किंतु उनकी सहायता की अपेक्षा ईश्वर-पुरुष की सहायता अत्यधिक सफलीभूत होती है। साधक सहायता करता है, तो वह हमेशा मनुष्य को वहीं तक ले जा सकता है, जहां तक वह स्वयम् पहुँचा है और उसकी यह सीमित सहायता भी धीरे धीरे अपना प्रभाव उन्नत करती है। फलतः जो मनुष्य ऐसी सहायता के द्वारा उन्नत होता है, उसे प्रथम भूमिका में दीर्घ काल तक ठहरना पड़ता है, फिर द्वितीय भूमिका में भी बहुत समय तक रुकना पड़ता है, और इसी भांति अन्य भूमिकाओं में भी। किंतु सहायता देने के लिये, यदि ईश्वर-पुरुष किसी मनुष्य को चुनता है, तो वह उसे, अपनी अनुकंपा के द्वारा, एक क्षण में ही सातवीं भूमिका में पहुँचा सकता है; यद्यपि, इस एक क्षण के भीतर, उस साधक को समस्त अंतरवर्ती भूमिकाएं पार करनी पड़ती हैं।

जब ईश्वर-पुरुष किसी मनुष्य को सातवीं भूमिका में पहुँचाता है, तो वह उसे अपने ही समान बनाता है।

और जो मनुष्य, इस प्रकार, सर्वोच्च आध्यात्मिक परम पद को प्राप्त होता है, वह स्वयं ईश्वर-पुरुष बन जाता है। ईश्वर पुरुष आध्यात्मिक ज्ञान का अपने शिष्य में जो संचारण करता है, वह एक दीपक से दूसरे दीपक को ज्योतित करने के तुल्य है, जिस जलते

वरगद के वृक्ष
का सादृश्य

हुए दीपक से दूसरा दीपक ज्योतित होता है, वह उसके समान ज्योति देने में समर्थ हो जाता है: तथा महत्व और उपयोगिता की दृष्टि से, उन दोनों दीपकों में कोई अंतर नहीं रह जाता। ईश्वर-पुरुष वरगद के वृक्ष के सदृश होता है। वरगद का वृक्ष उच्च तथा विशाल होता है, तथा धूप, वर्षा और आंधी से यात्रियों की रक्षा करता है, तथा उसके पूर्णतः विकसित हो जाने के पश्चात्, उसकी जड़ के समान नीचे की ओर झुकने वाली शाखाएं ऊसर जमीन में काफी गहराई तक घुस जाती हैं, और उससे कुछ समय के पश्चात् एक दूसरा पूर्ण वरगद का वृक्ष उत्पन्न होता है, जो पहले वरगद के वृक्ष की तरह उच्च और विशाल होता है, तथा न केवल पहले वरगद के वृक्ष की ही भांति धूप, वर्षा तथा आंधी से यात्रियों की रक्षा करता है, किंतु पहले वरगद के वृक्ष की ही भांति, वह भी एक दूसरा पूर्ण वरगद का वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। यही बात ईश्वर-पुरुष पर भी लागू होती है, जो अन्य मनुष्यों में सुप्त ईश्वर-पुरुष को जागृत करता है। पृथ्वी पर ईश्वर-पुरुषों का क्रमबद्ध निरंतर अभ्युदय, मानवता के लिये स्थायी वरदान है। ये ईश्वर-पुरुष मानवता की तिमिराच्छादित पूर्ण यात्रा में उसका पथ प्रदर्शन करते हैं।

ईश्वर-पुरुष संसार का प्रभु भी है तथा साथ ही साथ सेवक भी है; अपने अक्षय अनुग्रह की, मुक्त हस्त से अनंत वर्षा करने वाले की हैसियत से, वह संसार का स्वामी है; तथा निरंतर औरों का भार वहन करने वाले, तथा उन्हें उनकी असंख्य कठिनाईयों में सहायता करने वाले के नाते, वह संसार का सेवक है। जिस प्रकार वह प्रभु है उसके साथ ही साथ वह सेवक भी है उसी प्रकार वह परम प्रेमी तथा अद्वितीय प्रियतम भी है। जिस प्रेम का वह दान करता है, तथा प्रति दान में वह जो प्रेम प्राप्त करता है, वह प्रेम जीवात्मा को अज्ञान से मुक्त करता है। जब वह प्रेम देता है तो वह अन्य रूपधारी अपने आप को ही देता है; जब वह प्रेम प्राप्त करता है, तो वह वही प्रेम प्राप्त करता है, जिसे वह अपने अनुग्रह के द्वारा, औरों में जाग्रत करता है। वह बिना किसी भेद भाव, सब पर अपने अनुग्रह की वर्षा करता है। ईश्वर-पुरुष का अनुग्रह मेघ जल के तुल्य है। मेघ का जल, ऊसर तथा उर्वरा सभी भूमियों पर, समान भाव से बरसता है। उसी प्रकार ईश्वर-पुरुष सभी मनुष्यों पर, बिना भेद भाव के अपने अनुग्रह की वर्षा करता है। किंतु जिस प्रकार, परिश्रम पूर्वक तथा धैर्य पूर्वक जोती गई उर्वरा भूमि में ही वर्षा के कारण बीज

प्रभु तथा
सेवक

ऊगता है, तथा फलता फूलता है, उसी प्रकार योग्य पात्र में ही, ईश्वर पुरुष का अनुग्रह ऊगता तथा विकसित होता है।

मंडल

कई जन्मों की खोज, पवित्रता, सेवा तथा आत्म-बलिदान के पश्चात्, जीवात्मा को ईश्वर-प्राप्त गुरु से मिलने तथा उससे संबद्ध होने का सौभाग्य प्राप्त होता है; और गुरु से कई जन्मों के निकट संबंध रखने तथा उसे प्रेम करने तथा उसकी सेवा करने के पश्चात्, वह उसके

गुरु के मंडल में प्रवेश ।

मंडल में प्रवेश करता है। जब गुरु अपने कार्य के लिये अवतार लेता है, तो वह सदैव अनिवार्यतः उन सभी को अपने साथ लाता है, जो उसके मंडल में प्रविष्ट हो गये रहते हैं। जो उसके मंडल में प्रविष्ट हो चुके हैं, वे वे आत्माएँ हैं, जिन्होंने अपने प्रयत्नों के द्वारा, ईश्वरानुभूति का अधिकार प्राप्त कर लिया है, तथा ईश्वरानुभूति का निश्चित समय ज्योंही आता है, त्योंही गुरु के अनुग्रह से, उन्हें ईश्वरानुभूति होती है।

द्वैत के संसार में होने वाले समस्त कार्य द्वैत के संस्कारों से प्रेरित होते हैं। द्वैत की चेतना का अर्थ है, द्वैत के संस्कारों की क्रिया। इन द्वैत के संस्कारों के द्वारा, पहले तो चेतना के विकसित होने तथा उसके सीमित होने का उद्देश्य पूर्ण होता है; तदनन्तर, द्वैत के संस्कारों के ही द्वारा, आत्म-ज्ञान या ईश्वरानुभूति की प्राप्ति करने में, चेतना को सहायता

द्वैत के संस्कारों की क्रिया ।

मिलती है। जीवात्मा जब तक द्वैत के अनुभवों को पार नहीं कर चुकता तब तक उसे अपनी एकता की चेतना प्राप्त नहीं हो सकती; और द्वैत के अनुभव द्वैत के संस्कारों द्वारा प्राप्त होते हैं।

आदि से लेकर अंत तक, जीवात्मा संस्कारों के वेग के वशीभूत रहता है। ये संस्कार ही जीवात्मा का भाग्य-विधान करते हैं। ये संस्कार प्रारब्ध संस्कार प्रारब्ध संस्कार। कहलाते हैं। प्रारब्ध संस्कार सदैव द्वन्द्व-मूलक होते हैं; जैसे लोभ के संस्कार तथा लोभ के विरोधी संस्कार, वासना के संस्कार तथा वासना के विरोधी संस्कार क्रोध के संस्कार, तथा क्रोध के विरोधी संस्कार, बुरे विचारों, शत्रुओं तथा कार्यों के संस्कार तथा इनके विरोधी संस्कार।

परमाणु की अवस्था से लेकर, ईश्वरानुभूति की अवस्था तक, जीवात्मा द्वैत के संस्कारों से बँधा रहता है; और जो कुछ भी उसे अनुभव होता है, वह द्वैत के ही संस्कारों से निर्णीत होता है। जब संस्कारों का लोप। जीवात्मा को परमात्मा की अनुभूति होती है, तो उसके समस्त संस्कार लुप्त हो जाते हैं। यदि वह दिव्यता के ही अनुभव में मग्न हो जाय, तथा द्वैत-जगत् की सामान्य चेतना में अवतरित न हो, तो वह सर्वदा के लिये, सभी

प्रकार के संस्कारों से परे रहता है। उसके कोई संस्कार नहीं रह जाते; और न रह ही सकते हैं।

किंतु यदि ईश्वर-प्राप्त पुरुष द्वैत-जगत की चेतना में अवरोहण करता है, तो सार्वलौकिक मन प्राप्त करता है;

और उसे जो सार्वलौकिक मन प्राप्त होता

विश्वव्यापी समष्टि- है, वह हल्के तथा बंधन-शून्य संस्कारों
मन (universal से संपन्न होता है। ये संस्कार योगायोग
mind)के योग- संस्कार कहलाते हैं। अपनी परमावस्था
योग संस्कार। में, गुरु समस्त संस्कारों से मुक्त

रहता है, और जब उसे सृष्टि का ज्ञान रहता है, और जब वह सृष्टि में काम करता है, तब भी वह योगायोग संस्कारों से अनासक्त तथा विमुक्त रहता है। ये योगायोग संस्कार, उसके सार्वलौकिक मन (universal mind) पर अत्यंत हल्के रूप से आसीन रहते हैं। योगायोग संस्कार उसके सार्वलौकिक कार्य को प्रवाहित करनेवाली धाराओं का काम करते हैं; ये संस्कार उसकी चेतना को श्रृंखला-बद्ध तथा सीमित नहीं करते।

योगायोग संस्कार स्वतः- गति शील होते हैं। ईश्वर-पुरुष के समस्त विशिष्ट संबंध तथा संपर्क अंततोगत्वा इन योगायोग संस्कारों पर निर्भर रहते हैं।

योगायोग संस्कारों की क्रिया। योगायोग संस्कार सार्वलौकिक मन पर, किसी तरह का आवरण नहीं डालते। वे किसी अज्ञान की सृष्टि नहीं करते।

वे सुनिश्चित कार्यों को पूर्ण करने के लिये, एक आवश्यक ढाँचे के बतौर होते हैं। योगायोग संस्कार के द्वारा, ईश्वर की सार्वलौकिक इच्छा की अभिव्यक्ति विशिष्ट रूप धारण कर लेती है। देश तथा काल के संसार में, जो भी कार्य व्यक्त होगा, वह किसी निश्चित वस्तु-स्थिति या परिस्थितियों का एकराशि से अवश्य संबद्ध रहेगा, और जब उस कार्य का संबंध किसी दूसरी परिस्थिति से न होकर, किसी विशिष्ट परिस्थिति से होता है, तथा वह संबंध किसी अन्य प्रकार से न होकर किसी विशेष प्रकार से होता है, तो उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। बन्ध जीवात्माओं के कार्यों का विशिष्ट प्रकार से सीमित होना, उनके प्रारब्ध संस्कारों पर निर्भर होता है; और उनके ये प्रारब्ध संस्कार बंधन कारक होते हैं, तथा मुक्तात्मा का सीमित होना, उसके योगायोग संस्कारों पर अवलंबित रहता है; किंतु ये योगायोग संस्कार बंधनकारक नहीं होते।

यदि ईश्वर-पुरुष को सामान्य सांसारिक चेतना में अवतरित होते समय, ये योगायोग संस्कार प्राप्त न हों, तो वह सुनिश्चित प्रकार का कोई भी कार्य संसार में नहीं कर सकेगा। योगायोग संस्कार, सिद्ध पुरुष के कार्य में नहीं कर सकेगा। योगायोग संस्कार, सृष्टि के नियमों उसके द्वारा दिव्य-इच्छा को विशिष्ट से ही चलते हैं। रूप देने में तथा उसके धर्म-कार्य को पूर्ण करने में सहायक होते हैं। ईश्वर

पुरुष का अस्तित्व, ज्ञान आनन्द, प्रेम, तथा शक्ति अनन्त होती है; और वह अपनी अतीतावस्था में अनन्त रहता, तथा अपने-आपको अनन्त जानता है। किंतु सृष्टि-जगत में जो कार्य वह सिद्ध करता है वह सृष्टि के नियमों के आधीन रहता है; अतः एक अर्थ में, उसका कार्य सीमित रहता है। चूंकि उसका कार्य, प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण में प्रसुप्त दिव्यता तथा प्रच्छन्न अनंतता को व्यक्त करने से संबंध रखता है, और चूंकि इस अनंतता तथा दिव्यता की अनुभूति ही, समस्त सृष्टि का एकमात्र लक्ष्य है, अतः उसके कार्य का अनन्त माहात्म्य है। किंतु, यदि उसके कार्य का माप कार्य के परिणामों के मापदंड से किया जाय, तो वह संसार में किये जाने वाले अन्य किसी भी संभव कार्य के भांति सीमित होता है।

किंतु परिणामों की तुला पर, ईश्वर-पुरुष के कार्य को तोलने पर भी, मालूम होगा, कि ईश्वर-पुरुष के कार्य के परिणाम की तुलना में संसारी पुरुषों के ईश्वर-पुरुष के कार्य के परिणाम अत्यंत तुच्छ तथा महत्व का क्षेत्र तथा विस्तार शून्य होते हैं। महान् से महान् पुरुष, योगायोग संस्कारों जो संसार में बँधा हुआ है, वे परिणाम से निर्विष्ट नहीं पैदा कर सकता, जो ईश्वर-पुरुष कर होते हैं दिखाता है। ईश्वर-पुरुष के कार्य के पीछे ईश्वर की अनन्त शक्ति होती है, तथा संसारी पुरुष अपने अहंकार-मूलक मन की सीमित शक्ति

के द्वारा, कार्य करता है। किंतु कभी कभी, ईश्वर पुरुष भी कोई सीमित कार्य करके तिरोहित हो जाता है; इसका यह कारण नहीं होता, कि उसकी शक्ति सीमित होती है- किंतु उसके योगायोग संस्कारों के द्वारा उतना ही कार्य निर्दिष्ट रहता है, उमसे अधिक नहीं और उसका कार्य, उसके लिये, बंधन-कारक भी नहीं होता। योगायोग संस्कारदत्त कार्य को समाप्त करके, वह अनन्त के निराकार स्वरूप में पुनः मग्न हो जाता है। उसके योगायोग संस्कारों के द्वारा, उसके जितने समय तक कार्य करने का आयोजन रहता है, उससे एक क्षण भी अधिक वह नहीं ठहरता।

सिद्ध-पुरुषों की ही भाँति, अवतार का भी मंडल होता है। जब अवतार जन्म लेता है, तो उसके समक्ष एक सुस्पष्ट तथा सुनिश्चित आध्यात्मिक धर्म-कार्य उपस्थित रहता है, जो योजना के अनुसार अग्रसर होता है। यह कार्यक्रम या योजना, सावधानीपूर्वक, समय की गति के अनुसार व्यवस्थित रहती है। अवतार के अवतरण का क्रम अद्वितीय, होता है। भौतिक शरीर धारण करने के पूर्व, तथा द्वैत-जगत में अवतरित होने से पहले, वह अपने आपको तथा अपने मंडल के व्यक्तियों को विशेष प्रकार के संस्कार प्रदान करता है। जो विज्ञानी संस्कार कहलाते हैं। अवतार का मंडल एक सौ बीस व्यक्तियों से बनता है। अवतार के जन्म के समय, उन सबको जन्म लेना पड़ता है। भौतिक शरीर

धारण करने के पूर्व, विज्ञानी संस्कारों को ग्रहण करना, अपने आप पर, तथा अपने मंडल पर, एक आवरण डालने के समान है। जन्म लेने के पश्चात्, अवतार तब तक विज्ञानी संस्कारों के आवरण से आच्छादित है, जब तक वह समय न आ जाय, जिसे वह स्वयं नियुक्त करता है। किंतु, ज्योंही स्वयं उसके द्वारा नियुक्त समय आता है, त्योंही वह अपनी मौलिक दिव्यता का अनुभव करता है, तथा विज्ञानी संस्कारों के द्वारा कार्य करना शुरू करता है। कार्य शुरू करते ही उसके विज्ञानी संस्कार सार्वलौकिक मन के योगायोग संस्कार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि कोण से देखा जाय, तो विज्ञानी संस्कार द्वैत के अन्य सामान्य संस्कारों के ही समान होते हैं, यद्यपि स्वभाव में वे उनसे मूलतः भिन्न होते हैं। विज्ञानी संस्कारों के द्वारा जो कार्य प्रेरित होते हैं, तथा जो फल उत्पन्न होते हैं, वे सामान्य संस्कारों से प्रेरित कार्यों और फलों के ही समान होते हैं। किंतु, जहाँ सामान्य संस्कारों द्वारा प्रेरित कार्यों तथा फलों में, भ्रम-जन्य द्वैत के बंधन को हट करने की प्रवृत्ति होती है, वहाँ विज्ञानी संस्कारों द्वारा प्रेरित कार्यों और अनुभवों के परिणाम-स्वरूप, द्वैत के बंधन व्यवस्थित ढंग से ढीले होते जाते हैं। विज्ञानी संस्कारों का कार्य-रूप में परिणत होना, ईश्वर से एकता की अनुभूति प्राप्त करना है।

अतः, विज्ञानी संस्कार एकता या ईश्वर के प्रवेश-द्वार कहलाते हैं ।

मंडल के व्यक्ति, विज्ञानी संस्कारों के आवरण से, तब तक आच्छन्न रहते हैं, जब तक वे उस निश्चित समय में ईश्वरानुभूति नहीं कर लेते, जो अवतार के द्वारा नियुक्त कर दिया गया रहता है । और अवतार के द्वारा, जब उन्हें ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है, तब वे विज्ञानी संस्कार, जो वे अपने साथ लाते हैं, आवरण नहीं रह जाते, किंतु योगायोग संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं । इन योगायोग संस्कारों के द्वारा, वे ईश्वर-प्राप्त पुरुष पृथ्वी पर दैवी योजना की पूर्ति करते हैं ।

विज्ञानी संस्कारों, तथा योगायोग संस्कारों में एक महत्व का भेद है । यद्यपि विज्ञानी संस्कार, ईश्वर-प्राप्तिके लिये कार्य करते हैं, और अंत में उनके कार्यों से ईश्वर-प्राप्ति होती है, किंतु जब तक विज्ञानी संस्कारों तथा योगायोग संस्कारों में भेद । ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक वे सीमा बद्धता का ही अनुभव करते हैं । किंतु ईश्वरानुभूति के पश्चात् प्राप्त होने वाले योगायोग संस्कारों के द्वारा, अनन्तत्व के अनुभव में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता । उसका अनन्तत्व का अनुभव द्वैत के परे रहता है । योगायोग संस्कारों से, द्वैत-जगत् के कार्य तथा संबंध निश्चित तथा निर्दिष्ट होते हैं । विज्ञानी

संस्कारों के कार्य में परिणत होने के परिणाम-स्वरूप खुद को ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है, तथा योगायोग संस्कारों के कार्य में परिणत होने के परिणाम-स्वरूप, अन्य बद्ध जीवात्माओं को ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है।

परात्पर अवस्था में देश, काल तथा दृश्य जगत् का अस्तित्व नहीं रहता। द्वैत के दृश्य जगत् में देश, काल तथा कार्य-कारण का नियम है। अतः, जब सिद्ध पुरुष द्वैत के क्षेत्र में, मानव-परात्पर स्थिति। जाति के उद्धार के लिए, कार्य करता है, तो उसका कार्य देश, काल तथा कार्य-कारण के नियम के अधीन हो जाता है; तथा बाह्य कार्य के दृष्टि कोण से, वह समय समय पर सीमित-सा दिखाई देता है, यद्यपि, वस्तुतः वह अतीतावस्था की अनंतता तथा एकता का निरंतर अनुभव करता रहता है। यद्यपि वह स्वयं कालातीत होता है, तथापि जब वह, द्वैत की सीमा के अंतर्गत व्यक्तियों के लिए कार्य करता है, तो समय का महत्व रहता है।

मानव-जाति के प्रति ईश्वर-पुरुष का सामान्य कार्य अविश्रांत रूप से, उच्चतर शरीरों के द्वारा ही होता रहता

है; किन्तु, जब वह अपने मंडल में सम्मिलित व्यक्तियों के लिये, कार्य करता है, मंडल के लिए तब उसका कार्य समय-बद्ध रहता विशेष कार्य। है। यह समय, गंभीर चिंतन तथा सावधानी के साथ, वह स्वयं निश्चित करता है, क्योंकि वह कार्य, उनके संस्कारों की यंत्र-तुल्य क्रिया में, निश्चित तथा महत्वपूर्ण व्याघात उत्पन्न करता है, अर्थात् संस्कारों का क्रिया में परिणत होना, शीघ्रतिशीघ्र सम्पन्न किया जाता है। वह मंडल के लिये, निश्चित समयों पर कार्य करता है। अतः, जो व्यक्ति गुरु के आदेशों का पालन करने में, उनके द्वारा नियुक्त समय की पाबन्दी करते हैं, वे गुरु के विशेष कार्य का फल प्राप्त करते हैं। गुरु जिस विशेष कार्य का विधान करता है, उसके दृष्टि-कोण से, समय का प्रमुख महत्व है। अपने मंडल के व्यक्तियों के संबंध में, गुरु जो विशेष कार्य हाथ में लेता है, उसका प्रभाव तथा स्पर्श, केवल इन व्यक्तियों पर ही नहीं होता, किन्तु उन लोगों पर भी होता है, जो उसके मंडल के व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में रहते हैं।

गुरु का मंडल गुरु के सार्वलौकिक कार्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। मंडल से संबद्ध होकर, तथा मंडल

के ही द्वारा, वह मानव-जाति के प्रति, अपने आध्यात्मिक कर्तव्य का पालन करता है।

गुरु मंडल से
परिधि-बद्ध
नहीं होता।

अनेक जन्मों के निकट सम्बन्धों तथा सम्पर्कों के परिणाम स्वरूप, यह मंडल अस्तित्व में आता है। अत्यन्त समीपस्थ शिष्यों का ऐसा एक मंडल सभी गुरुओं का होता है। किन्तु, यह मंडल, गुरु की आंतरिक चेतना को किसी प्रकार भी सीमा-बद्ध नहीं करता। अपनी ईश्वरावस्था में, गुरु अपने को, समस्त संसार तथा प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में, स्थित पाता है और उसकी सत्ता को परिधि-बद्ध करने के लिये, कोई नहीं रह जाता। अद्वैत की अनन्तता में, विशेष संबंध के लिये, गुञ्जाइश नहीं रहती। दृश्य जगत् में किये जाने के लिये, जो कार्य तथा कर्तव्य, रु अपने हाथ में लेता है, उन्हीं के संबंध से, मंडल का अस्तित्व होता है। किन्तु दृश्य जगत् में किये जाने वाले आध्यात्मिक दृष्टि कोण से, गुरु का मंडल उतना ही महान् सत्य होता है, जितना कि हिमालय।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	विधी	विधि
२	५	स्वयमेव	स्वयमेव
२	१५	अंततीगत्वा	अंततोगत्वा
५	१४	विशिष्ट	विशिष्ट
६	२०	किंकर्तव्यमूढ	किंकर्तव्यविमूढ
९	२१	उंची	ऊंची
९	२२	हृदय	हृदय
१०	१९	कठोरतापूर्वक	कठोरतापूर्वक
११	११	करती	करती
१२	२०	की	के
१२	२१	हैं	हैं
१३	९	हैं	हैं
१३	१६	उत्पन्न	उत्पन्न
१५	१२	रहेगी	रहेगी
१६	१८	कार्य	कार्य
१९	३	सर्वोपरी	सर्वोपरि
१९	७	सर्वोपरी	सर्वोपरि
२०	५	बहिर्गत	बहिर्जगत
२०	१२	दुःखी	दुखी
२१	७	उत्पन्न	उत्पन्न
२५	६	सापेक्षिय	सापेक्षिक
२९	४	वैयक्तिककृत	वैयक्तिक
३३	११	उत्पत्ति	उत्पत्ति
३३	१४	तुम्हारी	तुम्हारी
३९	५	स्वयमेव	स्वयमेव
४२	४	'अहम्'	'अहम्'

दृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	१६	स्थानपूर्ती	स्थानपूर्ति
४९	१	समान्तर	समानान्तर
४९	२३	छठवी	छठवीं
४९	२३	सातवी	सातवीं
५०	१३	सातवी	सातवीं
५०	१३	को	के
५०	१४	छठों	छठों
५०	१५	सातवी	सातवीं
५०	१६	छठवी	छठवीं
५०	१६	सातवी	सातवीं
५०	१९	सातवी	सातवीं
५१	१२	छठवी	छठवीं
५५	१	आलोडित	आलोडित
५५	४	जिसका	जिसका
५५	८	क्रीडा	क्रीड़ा
५७	१५	इन	इस
५८	२०	है	हैं
६५	१	अविभवि	आविभवि
७९	२०	हैं	हैं
८४	२	हैं	हैं
८४	८	हैं	हैं
८४	१३	उत्पत्ति	उत्पत्ति
८८	१३	संन्यास	सन्यास
८८	२१	संन्यास	सन्यास
८८	२३	संन्यास	सन्यास
८८	२३	के	की
८९	६	संन्यास	सन्यास
९३	१०	शारिरिक	शारीरिक
९४	७	उत्पन्न	उत्पन्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९६	२३	अर्थात्	अर्थात्
१०३	१४	कर्मणा मग्न	कर्मणा से मग्न
१०४	३	शब्द	शब्द
१०४	२२	पर-विद्वेश	पर-विद्वेष
१०६	१०	जो पूर्ण	जो गुण पूर्ण
१०६	२०	खिचाता	खींचता
१०८	२१	वृं	वृं
१०९	२	वृं	वृं
११०	६	जन्माजित	जन्माजित
१११	६	विचार-विधियों	विचारविधियों
१११	८	विधियां	विधियां
११३	७	शाब्दिक	शाब्दिक
११३	८	शाब्दिक	शाब्दिक
११४	१७	शाब्दिक	शाब्दिक
१२०	७	कोई	कोई
१२१	२	विशिष्टता	विशिष्टता
१२१	२	कुतूहल	कुतूहल
१२१	५	विशिष्टता	विशिष्टता
१२४	१७	शब्दों	शब्दों
१२८	५	अंगिकार	अंगीकार
१३३	१७	उत्पन्न	उत्पन्न
१३४	४	पृथक्ता	पृथक्ता
१३४	२१	शारीरिक	शारीरिक
१४०	५	तात्पर्य	तात्पर्य
१४४	२१	अडचनों	अडचनों
१५१	२०	रहस्योद्घाटन	रहस्योद्घाटन
१५५	९	शर्त-पूर्ति	शर्त की पूर्ति
१७८	४	'र की	'वीर की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	५	है	हैं
१८३	८	हो	हों
१८६	२३	;	,
१८७	१८	कैसे	जैसे
१८८	१	पुरुषों	पुरुषों
१८८	३	पुरुषों	पुरुषों
१९०	१७	जिसमें	जिससे
१९३	११	है	हैं
१९३	१९	प्रतिनिधियोंका	प्रतिनिधियों
१९४	१	कहाजाता	कहा जाता
१९६	२	सर्वश्रेष्ठ	सर्वश्रेष्ठ
१९९	१२	पृथक्	पृथक्
१९९	१९	पृथक्	पृथक्
२०२	१५	दृश्यजगत	दृश्यजगत्
२०३	१	पृथक्	पृथक्
२०३	१४	सर्वगत ()	सर्वगत समष्टिमन ()
२०३	१६	मंत्र	मन
२०३	१७	शान्त	सान्त
२०८	३	परिपक्व	परिपाक
२०८	११	उस	उसी
२०९	२	;	,
२०९	Side heading	स्वतंत्रतमे	स्वतंत्रता
२१२	१९	यथेष्ट	यथेष्ट
२१८	२	.	.
२१८	१९	क	के
२२७	५	आधीन	अधीन
२२७	७	प्रच्छन्न	प्रच्छन्न
२२८	१९	—जगत	—जगत्
२२८	२२	है ।	हैं,
२२९	३	पश्चात्	पश्चात्

